163

no: 66

हरि[illegible] जगज्ज[illegible] [illegible] नहि [illegible]

इ[illegible] यस्य [illegible]: [illegible] न नैराश्य[illegible]

[illegible] निर्म[illegible] जगत् हे परि[illegible]

परि[illegible] [illegible]सुरगः [illegible] मानि[illegible] आत्म[illegible]

[illegible] श्रीराम
[illegible] श्रीनगर कश्मीर

श्रीराम
श्रीनगर कश्मीर

[illegible] Association

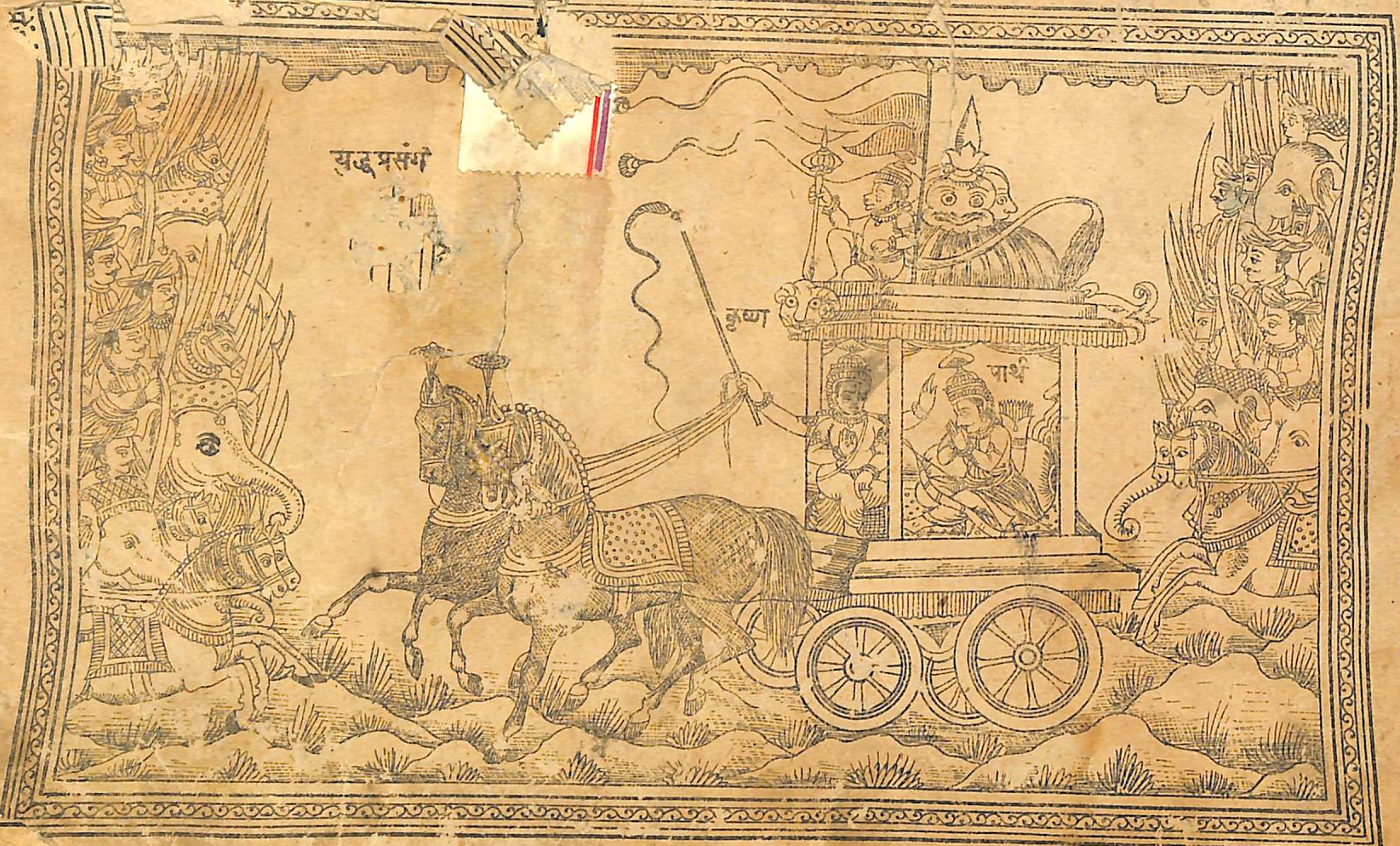

No: 66

व्यासजी
शिष्यमंडळी
धृतराष्ट्र
संजय

अथ श्रीमद्भगवद्गीतार्थ वाङ्मयी मूर्तिः ।। श्लोकौ ।। वक्त्राणि
पंच जानीहि पंचाध्यायाननुक्रमात् ।। दशाध्याया भुजाश्चैकमु
दरं द्वौ पदांबुजे ।। १ ।। एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरैश्वरी ।।
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ।। २ ।। ।। ६ ।।

मेंअंक डालनेका मतलब ये है कि जोजो अध्यायके जोजो अंग है उन अंगोंमें उन अध्यायोंके अंक लिखेहै.

तप लोक
जीवलोक
इंद्रादिदेव
को स्थान
आकाश
स्वर्ग
भूलोक
अतल
वितल
अर्जुन
सुतल
तलातल
महातल
रसातल
पाताल

श्री राम शैव आश्रम

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

गीताश्लोकार्थदीपिका ।

(भाषानुवाद)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैस्स्तवै-
र्वेदैस्साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ॥
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥

नत्वा श्रियःपतिं प्रणम्याहं कुर्वे लोकहितेच्छया ।
और लक्ष्मणार्यमतं ज्ञात्वा गीताश्लोकार्थदीपिकाम् ॥

...हा अत्यंत प्रबलपापकी वासना करिके भ्रष्ट होगयाहै ज्ञान जिस-
...ा ऐसा जो राजा धृतराष्ट्र अपना पुत्र सुयोधनके विजयको जान-
...की इच्छाकरके संजयसें पूंछनेलगे "धर्मक्षेत्रे" इत्यादिश्लोकसे ॥

हे संजय! धर्मका क्षेत्र जो कुरुक्षेत्र तिसमें मिलेहुये युद्धकी इच्छा ...रनेवाले मेरे पुत्र दुर्योधनादिक और पंडूके पुत्र युधिष्ठिरादि- ... क्या करतेभये ॥ १ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ॥
आचार्यमुपसंगम्य राजावचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

संजय बोले–तिससमयमें दुर्योधन राजा पद्मशकट आदिक व्यूहन करिके स्थापित जो पांडवनका सैन्य नाम सेना तिसको देखकर द्रोणाचार्यजीकेसमीप जायकर वचन कहनेलगे ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ॥
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य! तुम्हारे शिष्य बुद्धिमान् द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नने व्यूह रचनाकरिके स्थापन करीहुई बडी भारी जो यह पंडुराजाके पुत्रनकी सेना है ताकों देखो ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ॥
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इससेनामें बडे धनुषधारी युद्धमें भीम अर्जुनके
योधा हैं तिनहींका नाम कहतेहैं युयुधान और विराट
रथ जो द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ॥
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

धृष्टकेतु नाम राजा, चेकितान, बडे पराक्रमवाला काशि क
पुरुजित, कुंतिभोज, नरनमें श्रेष्ठ शैब्य नाम राजा ॥ ५ ॥ ने

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ॥

१ कुन्तीका पिता.

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्वे एव महारथाः ॥ ६ ॥

बडापराक्रमवाला युधामन्यु बडावीर्यवाला उत्तमौजा नाम राजा, सौभद्र (अभिमन्यु) द्रौपदीके पुत्र प्रतिविंध्यादिक पांच ये सब, सात्यकी आदि महारथीही हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ॥
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥

हे द्विजोत्तम ! ब्राह्मणनमें श्रेष्ठ द्रोणाचार्य हमारे मध्यमें तो जो सेनाके मालिक बडे शूर हैं तिनकों मैं आपके जाननेकेलिये कहताहूं आप सुनों ॥ ७ ॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ॥
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥

एक तो आप (द्रोणाचार्य) और भीष्मजी, और कर्ण, युद्धमें जीतनेवाले कृपाचार्य, आपके पुत्र अश्वत्थामा, मेरा छोटा भाई विकर्ण, तिसीप्रकार सौमदत्ति (भूरिश्रवा) ॥ ८ ॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ॥
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

औरभी मेरेलिये प्राण त्यागकरनेवाले नानाप्रकारके शस्त्रनके प्रहार करनेवाले युद्धमें बडे चतुर बहुतसे शूर शल्यादिक हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ॥
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥

तिसहेतुसे अर्थात् योधानके संख्याके कमतीजादे होनेसें हमारा

जो अकेला दशहजार शूरवीरोंके संग युद्धकरे उसको महारथी कहतेहैं.

सैन्य भीष्मकरके रक्षित होनेसें असमर्थ है. यह इनपांडवनका बल तो भीमकरके रक्षितहोनेसे हमारे जीतनेमें समर्थ है कारण यह है कि, भीष्मजी दोनों पक्षमें है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ॥
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तस्सर्व एव हि ॥ ११ ॥

अब आप सब विभागकियेहुये स्थाननको नहिंछोडिके व्यूह प्रवेशके मार्गनमें स्थितहोकर सेनापति जो भीष्म है तिनहीकी रक्षा करो ॥ ११ ॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ॥
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

तव तो कुरुनमें वय-ज्ञान-पराक्रमकरके वृद्ध नाम अधिक प्राचीन उनके पितामह बडे प्रतापवाले भीष्मजी उस दुर्योधनराजाके आनंद उत्पन्नकरनेकेलिये ऊंचेस्वरसे सिंहनाद गर्जनकरिके शंखको बजानेलगे ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ॥
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

तिसके अनंतर शंख, नगारा, ढोल, गोमुख, जो बाजा सो तत्क्षणमें सैनिकनकरिके बजनेलगे सो शंखादिकनका शब्द वडा संकुल नाम गहर होताभया ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ॥
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

तिसके अनंतर माधव जो श्रीकृष्ण, पांडव जो अर्जुन, सुपेदघो

नकरिके जोडेहुये बडे भारी ऊंचे रथपर स्थितहोकर अप्राकृत दोनों शंखोंको बजातेभये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ॥
पौंड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥

हृषीकेश (श्रीकृष्णजी) पांचजन्य नाम शंखको बजातेभये. धनंजय (अर्जुनजी) देवदत्त नाम शंखको बजातेभये. भयंकर कर्म करनेवाले वृकोदर (भीमसेनजी) पौंड्र नामक बडेभारी शंखको बजातेभये ॥ १५ ॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

कुंतीके पुत्र युधिष्ठिर राजा अनंतविजय नामक शंखको बजातेभये नकुलजी सुघोष नाम शंखको, सहदेवजी मणिपुष्पक नाम शंखको बजातेभये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ॥
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥

बडेभारी धनुषको धारणकरनेवाला काशीका राजा, महारथ जो शिखंडी और धृष्टद्युम्न विराट और युद्धमें शत्रुओंनसे नहीं जीतेजावे ऐसे सात्यकि ॥ १७ ॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ॥
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥

---

१ एककालमें श्रीभगवानने समुद्रमें प्रवेशकर पंचजन नाम दैत्यको मारा तब उसके शरीरसे जो शंख उत्पन्नहुआ उसका नाम पांचजन्य है.

द्रुपद, द्रौपदीके पुत्र प्रतिविंध्यादिक और महाबाहु बलवाला सौभद्र जो (अभिमन्यु) यह संपूर्ण लोग, हे पृथ्वीपते धृतराष्ट्र! अलग अलग शंखनकों बजातेभये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ॥
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

सो शंखनका शब्द बडा संकुल होकर आकाशपृथिवीकों शब्दयुक्त करताहुआ धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनादिकनके हृदयनकों विदारण करताभया ॥ १९ ॥

अथ व्यवसितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ॥
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥

तिसके अनंतर हे महीपते धृतराष्ट्र! आगे खडेभये दुर्योधनादिकनकों देखके युद्ध प्रवृत्तहोनेंके समयमें धनुषको उठायके हनुमानजी हैं ध्वजामें जिनके ऐसे अर्जुनजी हृषीकेश भगवानसें यह वचन कहतेभये ॥ २० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥ २१ ॥

कि हे अच्युत भगवन्! दोनों सेनाके मध्यमें मेरे रथको स्थापनकरो ॥ २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ॥
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥

जबतक हम यह युद्ध करनेकों खडेहोनेवालोंकों देखतेहैं कि, इ-

सयुद्धके उद्योगमें मेरेको किसकेसाथ युद्ध करनाचाहिये ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ॥
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

दुष्टबुद्धिवाले धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनके प्यारकरनेंकी इच्छावाले जो राजा यहां आयेहैं उन सब युद्धकरनेंकी इच्छावालोंको मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय कहताहै—हे भारत! ऐसे अर्जुनसे कहेहुए विष्णुभगवान् अर्जुनके उत्तमरथको दोनों सेनाओंके मध्यमें भीष्म, द्रोणाचार्य, और अन्य सबराजा इनके संमुख खडाकरवाय यह वचन कहतेभये कि, हे अर्जुन! इकट्ठेहुये इन सब कुरुवोंको देख ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ॥ आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन्
पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ॥ तान्
समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥ २७ ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥

इससे अनंतर अर्जुन उस रणमे पितृ अर्थात् भूरिश्रवा आदि चाचा पितामह (भीष्मादिक) आचार्य, मामा, पुत्र, पौत्र, मित्रजन, द्रुपद आदि श्वशुर, कृतवर्मा आदि सुहृदजन, इनसबोंको देखताभया ऐसे उन दोनों सेनाओंमें उन सब बंधुजनोंको खडेहुयोंको देखके परमदयासे युक्तहो विशेषकरिके ग्लानीको प्राप्तहो यह वचन कहताभया ॥ २६ ॥ २७ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥

अर्जुन बोला हे कृष्ण! युद्धकरनेंको खडेहुये इन स्वजनोंको देखके मेरे अंग शिथिल होतेहैं और मुख सूखताहै ॥ २८ ॥

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥

और मेरे शरीरमें कंप होताहै. रोमांच खड़े होतेहै. गांडीवधनुष हाथसे गिरजाताहै. त्वचा सबतरफसे तपायमान होतीहै ॥ २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ॥
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

मैं यहां खड़ेरहनेंको समर्थ नहींहूं मेरा मन भ्रमतासरीखा होरहाहै, और हे केशव! मैं निमित्त अर्थात् शकुनोंको बुरेफलदायी देखताहूं ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

हे कृष्ण! मैं युद्धमें स्वजनोंको मारके कछु कल्याण नहींदेखताहूं

और मैं विजयभी नहींचाहता. राज्य और सुखोंकोभी नहींचाहता॥३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हे गोविन्द ! हमको राज्यसे और भोगोंसे तथा जीवनेंसे क्याहै क्यों कि, जिनकेलिये हमको राज्य वांछितहै भोग तथा सुख वांछितहै वेही सब इसयुद्धमें प्राण तथा धनके त्यागको अंगीकारकरके मरनेंको खडेहैं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोपि मधुसूदन ॥
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

हे मधुसूदन! आचार्य, पितृ अर्थात् चाचा आदि. पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, साले, तथा और संबंधीहै. इन सबोंको जो यदि मेरेको मारेंगे तोभी मैं नहीं मारनेंकी इच्छा करताहूं इन्होंको मैं त्रिलोकीके राज्यके वास्तेभी नहींमारूं फिर इस पृथ्वीमात्रके राज्यकेलिये तो क्या मारूंगा ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ॥
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ॥
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

---

१ मा नाम लक्ष्मी उसके धव कहिये पति (श्रीकृष्ण)

हे जनार्दन! इन धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारके हमको क्या प्रसन्नता होगी इन आततायिनको मारके हमको अन्याय होनेंसे पापही लगेगा इसलिये हम धृतराष्ट्रके पुत्रोंको अपनें बांधवोंको मारनहीं चाहते. हे माधव! स्वजनोंको मारके कैसे हम सुखी होंगे आततायिनके लक्षण ॥ चौपाई--अग्नि देहिं विषदान करें हैं, क्षेत्र नारि धन जेंहि हरें हैं। प्राण वधनको शस्त्र उठावें, आततायि नर वेहि कहांवें ॥३६॥३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ॥
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ॥
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

हे जनार्दन! लोभकरिके जिन्होंके चित्त भ्रष्ट होरहेहैं ऐसे ये दुर्योधन आदि तो यद्यपि कुलक्षयकरनेंके दोषको और मित्रद्रोहके पातकको नहीं देखतेहै परंतु कुलक्षय करनेंके दोषको देखनेवाले जो हम सो इस पापसे कैसे निवृत्त नहींहोवें ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ॥
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

कुलक्षयहोनेंमें कुलके सनातन धर्म नष्ट होजातेहैं. फिर धर्म नष्ट होजावें तब उस कुलको अधर्म जीतलेताहै तिरस्कार करदेताहै॥४०॥

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥

---

१ "अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते आततायिनः" ये स्मृतीसें इहां जो शस्त्र लेकर मारनेंकों उद्युक्त होवे उसकों आततायी स्मृतिज्ञ जन कहतेहैं.

हे कृष्ण! अधर्मकरके कुलकी प्रतिष्ठा नहीं रहनेंसे कुलकी स्त्रियां दुष्ट होयगी. हे वृष्णिवंशोद्भव! फिर उन दुष्टस्त्रियनमें वर्णसंकर उत्पन्न होतेहै ॥ ४१ ॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ॥
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥

ऐसे[1] कुलको नष्टकरनेवाले कुलघ्न पुरुषोंके कुलका वर्णसंकरपुरुष तिस कुलको नरकमें प्राप्त करताहै क्यों कि, तिन कुलघ्नपुरुषोंके पितर पिंड तथा उदकक्रियाका लोप होनेंसे पतित होजातेहैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ॥
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥

वर्णसंकर करनेवाले इन दोषोंकरके कुलघ्नपुरुषोंके जातिधर्म और कुलधर्म निरंतर नष्ट होतेहै ॥ ४३ ॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ॥
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥

हे जनार्दन! हम ऐसा सुनतेहै–कि, जिन मनुष्योंके कुलके धर्म उखड़ जातेहैं उनका निरंतर नरकमें वास रहताहै ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ॥
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥

अहो! कष्टहै हम बडा पाप करनेंको उद्यत है क्यों कि, जो राज्यके सुखके लोभसे स्वजनोंके मारनेंका उद्योग कररहेहै ॥ ४५ ॥

---

१ इस श्लोकका भाव यह है कि, कुलका संकर कुलघ्नपुरुषोंके नरक केलिये होताहैं और केवल कुलघ्न पुरुषोंकाही नरकपात होताहै. यहनहीं किंतु उनके पितृगणोंकाभी नरकपात होताहै.

यदिमामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ॥
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥

शस्त्ररहित हाथोंवाले और मारनेका बदला नहीं लेनेवाले ऐसे मुझको हाथमें शस्त्र लियेहुए धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मारदेवेंगे तो मेरा बहुतही कुशल है ॥ ४६ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ॥
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रसे संजय कहताहै-कि, युद्धमें वह अर्जुन ऐसे कहके शोकसे व्याकुल मनवाला हो, बाणसहित धनुषको पटक पीछेको रथमें जाबैठा ॥ ४७ ॥

इति श्रीबेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामाऽऽत्मज-बुध-वसतिरामविरचितायां गीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ॥
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय कहतेहै—तिस प्रकारकरके दयासे व्याप्तहुए और आंशुवोंसे भरे व्याकुलहुए नेत्रनवाले विषादसंयुक्त ऐसे अर्जुनको मधुसूदन[1] भगवान् यह वचन कहतेभये ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ॥
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन! अनार्य अर्थात् अनारी जनोंसे सेवित कीर्तिनाश करनेवाला नरकमें पहुँचानेंवाला ऐसा यह मोहस्वरूपी दुःख इस विषमस्थल संकटमें तुमको कहांसे प्राप्तभया ॥ २ ॥

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे पार्थ! (पृथाके[2] पुत्र) तुम कायरताको प्राप्त मतहो यह तुह्मारे योग्य नहीं है. हे परंतप! तुम क्षुच्छपना तथा हृदयकी दुर्बलताको त्यागको खडेहो ॥ ३ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ॥
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

---

१ इहां मधुसूदन कहनेका अभिप्राय यह है कि, स्वयं आप (श्रीकृष्ण) दुष्ट मधुनामक दैत्यका निग्रह करनेवाले अर्जुनकोभी दुष्टकौरवोंकूं मारनेका सूचना करतेहैं.

२ अहो बडाआश्चर्य है कि देवप्रसादसे पृथाके पुत्र होकर फिरभी क्लीबता करतेहो कारण पृथाके तनयमात्रमें वीर्यातिशय प्रसिद्धहै.

अर्जुन कहताहै-हे अरिसूदन! मैं रणमें भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य इनकेसंग बाणोंकरके कैसे युद्ध करूंगा क्यों कि, ये तो मेरेसे पूजनेंके योग्यहै ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भै-
क्ष्यमपीह लोके ॥ हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरू-
निहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

जिनका मारना उत्तमलोककी प्राप्तीका नाशक है ऐसे महाअनुभाववाले गुरुवोंके वधको त्यागके इस लोकमें भिक्षाका अन्नभी भोजनकरना श्रेष्ठहै और अर्थकी तृष्णासे युक्तहुए गुरुवोंको मारके तो रुधिरसे लिपेहुए भोगोंको भोगूंगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम य-
दि वा नो जयेयुः ॥ यानेव हत्वा न जिजीवि-
षामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

हम यहभी नहीं जानते है कि, हमोरमें कौनसा बली है न जानें हम जीतें अथवा येही हमको जीतलेवै और जिनको मारके हम जीवना नहीं चाहतेहै वेही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे संमुख खडेहै ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म-
संमूढचेताः ॥ यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि त-
न्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

कार्पण्य अर्थात् इनको मारके हम कैसे जीवेंगे ऐसा अज्ञानस्वरूपी मोह और कुलक्षय करनेंका दोष इन्होंकरके मेरा शूरवीरपनेंका स्वभाव हत होगयाहै. और मेरा चित्त धर्मसंमूढ (चकित) होग-

याहै कि इस युद्धको त्यागके भिक्षाटन करनाभी अच्छा, अथवा क्षत्रियधर्म युद्धही कल्याणकारक है सो इन दोनुवोंमे जो कल्याण करनेंवाला हो उसको आप कहो मैं तुह्मारेशिष्य शरण आयाहूं शरणागतको मुझको सीख दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोष-
णमिन्द्रियाणाम् ॥ अवाप्य भूमावसपत्नमृ-
द्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

अहो! बडा कष्ट है कि, मैं पृथ्वीमें निष्कंटकराज्यको प्राप्त होवूं और देवतोंका अधिपति इन्द्रभी होवूं परंतु मेरी इंद्रियनको सुखानेंवाले शोकको जो दूरकरदेवै ऐसे उपायको मैं नहीं देखताहूं ॥ ८ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ॥
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूवह ॥ ९ ॥

संजय कहताहै—हे परंतप! धृतराष्ट्र गुडाका अर्थात् निद्राको जीतनेंवाला वह अर्जुन इंद्रियोंके पति गोविंद पूर्वोक्त विष्णुभगवान्के प्रति इस प्रकारसे कहके फिर युद्ध नहींकरूंगा ऐसे कह चुपका होगया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ॥
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥

---

१ हे अर्जुन! नहींतों हमारा तू सखा नहीं शिष्य तब तेरेकूं कैसे उपदेश करैं यह भगवानके अभिप्रायकूं अर्जुन जानके उपदेश स्वीकारकेलिये अपनेकूं शिष्यत्वकी सूचनाकरतेहैं.

हे भारत! तब दोनों सेनाओंके मध्यमें शोकसे युक्त होके स्थित-हुए अर्जुनको श्रीकृष्णजी हँसतेसरीखे हो यह आगे कहेजावेगे सो वचन बोले ॥ १० ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ॥
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णभगवान्नें विचारा कि, देहके और आत्माके ज्ञान हुयेविना अर्जुनको यह मोह है सो यह मोह आत्मज्ञानहुये विना दूर नहींहोगा इसलिये (आत्मविवेककेलिये) कहनेलगे. हेअर्जुन! तुम जो नहीं शोचनेके योग्यहै तिनको वारंवार शोचतेहो क्यों कि, देहात्मस्वभावको कछुभी विचारे तो शोकका विषय नहींहै और तुम मैं युद्धमें भीष्मको कैसे मारूं इत्यादि केवल पंडितोंसरीखी बातें करतेहों किंतु पंडित नहींहो क्यों कि, पंडित अर्थात् ज्ञानीलोग मरेहुयोंका और जीवतेहुयोंका यानें मेरेविना ये बंधु कैसे जीवेंगे ऐसा दोनोंका शोच नहींकरतेहै दूसरा यह अर्थ है कि ज्ञानीजन प्राणरहित द्रव्योंको और प्राणधारीजीवोंको नहीं शोचतेहै ॥ ११ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ॥
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥ १२ ॥

अब जीवात्मा तथा परमात्माके स्वभावको कहतेहैं हे अर्जुन! ईश्वर मैं कभीभी न था ऐसा नहीं किंतु होताही भया और हमारे प-

१ बंधुओंके नाशमें शोक होना अनुचित नहीं क्यों कि, बडे बडे महर्षिवसिष्ठादिकोंकोभी हुवाही है यह अर्जुनके अभिप्रायसे शोक श्रीकृष्णभगवान् दूर करतेहैं.

रतंत्र तुम तथा ये संपूर्ण राजा कभी न थे ऐसा नहीं किंतु होतेही भये और ऐसाभी नहीं कि, अबसे आगे स्थित नहीरहेंगे किंतु इसी- तरह रहैंगे इसलिये आत्माको जन्ममरणसे रहित जान तुझें शोक न- हीं करना चाहिये यहां हम तुम ये राजा ऐसे अलग २ कहनेंके सिद्धां- तसे मालूम हुआ कि, जीवात्मा और परमात्मा न्यारे २ हैं यहां यह श्रुतिभी प्रमाणहै कि, "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" इति ॥ १२ ॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ॥
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

अर्जुन ऐसी शंका करे कि, तुम ईश्वरहो तुम्हारे तो जन्मादि नहीं जीवोंके तो होनाही चाहिये तहां कहतेहै-जैसे देहधारी जीवके शरी- रमेंही कुमार, तरुण, वृद्ध ये अवस्था होतीहै देहाभिमानी जीव ए- करस है ऐसेही मरेपीछे अन्यदेहकी प्राप्ति होजातीहै. आत्माका ना- श नहींहोताहै. क्यों कि, जन्मलेतेही बालकके माताका स्तनपान और पूर्वसंस्कारसेही दीखताहै ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ॥
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अर्जुन शंका करे कि, मैं गयोंका वा आयोंका शोच नहींकरता किंतु उनके वियोगादिकके दुःखोंको भजनेवाले आत्माको शोचताहूं तहां कहतेहै--हे कौंतेय! मात्रास्पर्श कहिये इंद्रियोंके जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध, ये विषयही शीत, गरम, कठोर आदि सुख दुःखोंके

१ इस श्रुतीका अर्थ यह है कि, नित्यानां नाम सदा रहनेवाले चेतन नाम जीवोंके मध्यमें मैं नित्य चेतन हूं, जो मैं जीवोंकेलिये कामविधान करताहूं.

देनेवाले है सो इनको आगमापायी अर्थात् जानेआनेहारे जान औ-र अनित्यजानके हे भारत ! नाम भरतवंशमें होनेवाले तुम इन स-बोंको सहनकरो ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ॥
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोमें श्रेष्ठ ! सुखदुःखमें समान रहनेवाले जिस धीरजवान् पुरुषको ये मात्रास्पर्श बाधा नहीं देतेहै वह वर्णाश्रमोचित धर्म ज्ञा-नद्वारा मोक्षको प्राप्तहोताहै ॥ १५ ॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

अर्जुन शंका करै कि, शीत उष्ण आदि अत्यंत दुःसह कैसे सहन कियेजावे अत्यंत सहनमें कदाचित् शरीरही नष्ट होजावे त-हां कहतेहै-असत् जो नाशवान् शीत उष्ण शरीर आदि है उनकी सत्ता (स्थिरता) नहींहोती सत् जो अविनाशी आत्मादि है, उसका नाश नहींहोता तत्त्वदर्शी पंडितोंनें इन दोनवोंका अच्छीतरह से सि-द्धांतभी देखाहै ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ॥
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

जिस आत्मतत्त्वरूप चेतनकरिकै यह संपूर्ण देहादिक अचेतन-तत्त्व व्याप्त है तिस आत्मस्वरूपको अविनाशी जानो इस अविनाशी आत्माका नाश करनेको कोई समर्थ नहींहै ॥ १७ ॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ॥
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युद्ध्यस्व भारत ॥ १८ ॥

हे भारत! सदा एकरस रहनेंवाले विनाशसे रहित अप्रमेय अर्थात् प्रमाण नहींकियाजावें किन्तु प्रमाता है ऐसे जीवात्माके विनाशवाले ये शरीरादिक कहेहै इसलिये युद्ध करो ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला जानताहै हननक्रियामें कर्त्ता जानताहै अथवा जो आत्माको हतहुआ मानताहै वे दोनों नहीं जानतेहै क्यों कि, आत्मा किसीको मारतानहीं और आप कभी मरतानहीं ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भ-
विता वा न भूयः ॥ अजो नित्यः शाश्वतो-
ऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसीकालमेंभी जन्मता नहीं कभी मरता नहीं और यह नवीन उत्पन्न नहीं भयाहै कभी फिर उपजैगाभीनहीं किंतु यह अजन्मा है सर्वदा नित्य है एकस्वरूप है सनातन है पुराण पहले था सोही है और शरीरके हतहोनेके समय हतभी नहींहोता इन सब विशेषणोंसे जायते १ अस्ति २ वर्द्धते ३ विपरिणमते ४ अपक्षीयते ५ नश्यति ६ ऐसे कहे ६ विकार निरस्त कियेहै ॥ २० ॥

वेदाऽविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ॥
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति क[illegible] नत्यमृत जो
[illegible] माको नहीं मा-

१ तात्पर्य यह है कि आत्मस्वरूप हननरूप क्रिया क्यों कि, जन्मनेवाले-
दोनो नहीं हैं. [illegible] नश्चय जन्महै इसलिये अव-

हे पार्थ! (अर्जुन) जो इस आत्माको अविनाशी नित्य अजन्मा अव्यय अर्थात् अपक्षीणता रहित ऐसा जानताहै वह पुरुष कैसे किसीको मरवाताहै और कैसे किसको मारताहै इससे इन आत्माको मैं मरवाताहूं वा मारताहूं यह तेरा शोक आत्मस्वरूपको यथार्थज्ञानके अभावसे है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृ-
ह्णाति नरोऽपराणि ॥ तथा शरीराणि विहा-
य जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

यद्यपि शरीरके नाशमें शोक नहीं होनाचाहिये तथापि रमणीय राजशरीरका वियोगमें शोक होताहीं है तहां कहतेहैं जैसे मनुष्य जीर्ण पुरानेवस्त्रोंको त्यागके नवीनवस्त्रोंको धारण करताहै ऐसेही यह जीवात्मा युद्धमें जीर्णशरीरोंको त्यागके नवीनशरीर अर्थात् दिव्यशरीरको धारण करलेताहै इसलिये जीर्णदेहके नाशमें शोककरना योग्यनहीं ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काटसकते अग्नि नहीं दग्धकर सकता जल नहीं गीलाकरके शिथिल करसकता वायु नहीं सुकासकता॥२३॥

तत्त्व व्य अच्छेद्योयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ॥
आत्माका ः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

अन्तवन्त इ

ंक, स्थावर शरीरोंकरके अवस्थित आत्मस्वरू

अनाशिनोऽप्रमे

अब इनमें हेतु कहतेहैं--यह आत्मा सर्वतत्त्वका व्यापकस्वभाव होनेंसे और सर्वतत्त्वसे सूक्ष्म होनेसे अच्छेद्य है. अदाह्य अर्थात् दग्ध नहीं होसकता जलसे शिथिल नहीं होसकता वायुकरके सूक नहीं सकता क्यों कि, च्छेदन, दहन, क्लेदन, शोषण इन चारोंकोही शस्त्रादिक आप व्याप्तहोके छेदनादि करसकते है सूक्ष्म आत्माको ये छेदनादिकके कारण स्थूल होनेंसे व्याप्त नहीं होसकते किंतु नित्य, सर्वगत, स्थाणु अर्थात् स्थिरस्वभाववाला रूपांतरप्राप्तिरहित अचल अर्थात् पूर्वरूपको नहीं त्यागनवाला सनातन अर्थात् अनादि ऐसा यह आत्मा है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ॥
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह अव्यक्त है अर्थात् च्छेद्य आदि वस्तुवोंका ग्राहक जो चक्षु आदि तिन चक्षुआदिकोंका विषय नहीं है अचिन्त्य, अर्थात् चितवना नहीं कियाजाता अविकार्य नाम कर्मेंद्रियोंकोभी अगोचर है इसलिये ऐसे आत्माको जानके तुम शोचकरनेको योग्य नहींहो॥२५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ॥
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

हे महाभुज अर्जुन! जो यदि तुम नित्यजात और नित्यमृत जो यह देह है इसहीको आत्मा मानो देहसे भिन्न आत्माको नहीं मानतेहो तोभी तुम शोककरनेके योग्य नहींहो क्यों कि, जन्मनेवालेकी निश्चय मृत्यु है और मरनेवालेका निश्चय जन्महै इसलिये अव-

इयहोनेवाले प्रयोजनमें शोचकरना योग्य नहीं है ॥ २६ ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

मनुष्यादिक जो संपूर्ण भूत हैं इनकी आदि नाम प्रथम अवस्था प्रकृति है मध्यम अवस्था मनुष्यादि हैं पीछे अंतकी अवस्थामें फिर सूक्ष्म अवस्था प्रकृतिरूप होजातेहैं ऐसे अनित्य अवस्थावाले देहादिकोंका क्या शोचविलाप करना योग्यहै ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति-
तथैव चान्यः ॥ आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणो-
ति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

इस प्रकारसे शरीरको आत्मा माननेमेंभी शोकनिमित्त नहीं है अब शरीरसे भिन्न आत्माकाभी जानना दुर्लभहै यह कहतेहै कोई पुरुष शास्त्र और आचार्यके उपदेशोंसे आत्माको देखताहुआभी आश्चर्यकी तरह देखताहै और तैसेही कोई आश्चर्यकी तरह करता है और तैसेही कोई पुरुष आत्माको आश्चर्यकी तरह सुनताहै कोई आत्माको सुनके फिरभी अच्छीतरह नहीं जानताहै ॥ २९ ॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! सबके शरीरमें यह जीव[1] अवध्य है अर्थात् वध न होसकता इसलिये सबप्राणियोंके शोक करनेको योग्य नहींहो ॥ ३० ॥

---

१ सम्पूर्ण देवादिक देहधारियोंके जो देह है सो वधकरवेकूं योग्य हैं यह देही जीवतो नित्य अवध्यही हैं.

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ॥
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपनें धर्मकोभी इसलिये तत्वसे आत्मनिश्चय दुर्लभहै देखके तुमनें दयाकरके कंपन करना योग्य नहींहै क्यों कि, क्षत्रियको अपनें धर्मयुद्धसे हटके अन्य कोई कल्याण नहींहै ॥ ३१ ॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ॥
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे अर्जुन! स्वतः सिद्ध आपही प्राप्तहुआ और खुलाहुआ स्वर्गद्वार अर्थात् स्वर्गको देनेवाला ऐसा युद्धको सुखवाले पुण्यात्मा क्षत्रिय प्राप्त होतेहै ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ॥
ततःस्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

और जो यदि अपनें धर्मयुक्त इस युद्धको नहीं करोगे तो अपनें धर्मको और कीर्तीको त्यागके पापको प्राप्त होजावोगे ॥ ३३ ॥

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ॥
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

और लोग तुम्हारी बहुतसी अखंड अकीर्तीको कहैंगे संभावित अर्थात् कार्यकरनेंको समर्थ कीभी जो अकीर्ति, निंदा होतीहै यह मरनेसेभी बुराहै ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ॥
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५॥

तुमको महारथ, शूरवीर लोग भयसे हटाहुआ मानैंगे और

जिनको तुम बडे मान रक्खेहो उनके लघुता पाओगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ॥
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

तुह्मारे शत्रुजन बहुतसे अवाच्यबुरे वचनोंको कहेंगे जब कि वे तुह्मारे शत्रुजन तुह्मारी सामर्थ्यकी निंदा करेंगे फिर इससे अधिक क्या दुःख है ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

हे कौंतेय! जो यदि तुम युद्धमें हत होजावोगे तो स्वर्गमें प्राप्तहोगे. और जीतजावोगे तो पृथ्वीका राज्य भोगोगे. ऐसे दोनों पक्षमें तुमको लाभही है ऐसे निश्चयकरके युद्धकेवास्ते खडेहो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ॥
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

तुम सुख, दुःख, लाभ, हानि, जय, अजय, इनसबोंको समानकरके अर्थात् इनमें हर्ष शोक रहित होके युद्धकेवास्ते युक्तहो ऐसे करनेसे पापको नहीं प्राप्त होवोगे ॥ ३८ ॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ॥
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन! यह तेरी बुद्धि सांख्य अर्थात् आत्मतत्त्वको प्रकाश करनेवाली कहीहै. अब आत्मज्ञानपूर्वक मोक्षसाधनस्वरूप

१ अभिप्राय यह है कि युद्धके अर्थ जो उद्योग हैं सो परम पुरुषार्थ लक्षण मोक्षका साधनहैं.

कर्म अनुष्ठानमें उपयोगवाली जो बुद्धि है उस बुद्धीको सुनों इस बु-द्धीसे युक्त होनेसे तुम कर्मबंधसंसारको त्यागदोगे ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ॥
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

ऐसी बुद्धिकरके युक्त कर्ममें प्रारंभ कियेहुएका नाश नहीं होताहै. अर्थात् निष्फलता नहीं है और प्रत्यवाय अर्थात् ऐसाभी नहीं कि, जो विघ्नहोनेंसे उलटा (विपरीत) फल होजावे किंतु इस कर्मका थोडासाभी प्रारंभ बहुतसे भयरूप संसारसे रक्षा करताहै ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ॥
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥

हे कुरुनंदन! व्यवसायात्मिका नाम मैं ईश्वरकी भक्तिसेही नि-श्चय तरजावूंगा ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि तो यहां निष्कामक-र्ममें एकही है मोक्षही देनेवाली है और अव्यवसायी, कामीज-नोंकी बुद्धि अनेकप्रकारके कर्मफलोंकी होतीहै तहांभी बहुशाखा अर्थात् एकपुत्रादियज्ञमेंभी आरोग्य, धन, धान्य आदि अनेकफलों-को चाहनेवाली होतीहै ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ॥
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ॥
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥

हे अर्जुन! जो अज्ञानी जन वेदवादरत अर्थात् वेदोक्तकर्मसे स्वर्गादि फलही होताहै ऐसे कहनेवाले कामनावाले स्वर्गके विना अन्य कोई सुख नहीं है, ऐसे कहनेवाले स्वर्गकोही श्रेष्ठ बतानेवाले ऐसे कहके जिस पुष्पित अर्थात् इस मनोहर रमणीय वाणीको बहुतप्रकारकी क्रिया अर्थात् कर्मसाधनोंसे युक्तहुईको जन्मफल देनेवालीको, भोग और ऐश्वर्यकी गतीकेवास्ते कहतेहै ता इस बुद्धिसे मोहित चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्यमें प्रसक्तहुए कामीजनोंकी व्यवसायात्मिका अर्थात् आत्मतत्वको पहिचाननेवाली बुद्धि चित्तकी एकाग्रतामें स्थित नहींहोती है यहां तीन श्लोकोंका एक अन्वय है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥

हे अर्जुन! त्रिगुणविषयवाले वेद है अर्थात् वेदतो कामनावाले जो अधिकारी है उनके कर्मफलको प्रतिपादन करतेहै और तुम निस्त्रैगुण्य अर्थात् निष्काम होजावो तहां यह उपाय है कि, निर्द्वन्द्व सुख, दुःख, लाभ, अलाभ, जय, पराजय, इन द्वंद्वनसे रहितहो नित्य सत्वगुणमें स्थित धीरजवान् हो लाभ और लाभकी प्राप्ती के रक्षणसे रहितहो आत्मवान् अप्रमत्त रहो ॥ ४५ ॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ॥
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥

जैसे बावडी कूप आदि उदपान[1]में जहां तहां भ्रमेंसे मनुष्यका जितना प्रयोजन सिद्ध होताहै वही सब प्रयोजन बडा महान्‌ह्र

1 जलाशयमें.

जलाशयमें एकही जगह सिद्ध होजाताहै ऐसेही संपूर्णवेदोंमें जो कर्म-फलरूप प्रयोजन सिद्ध होताहै वह संपूर्ण ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाले ब्राह्मणको प्राप्त होताहै-क्यों कि, क्षुद्रआनंद ब्रह्मानंदके अंतर्गत आयलेताहै. दूसरा यह अर्थ है कि, सर्वत्र भरेहुए तालाव आदिमें मनुष्यका जितना प्रयोजन होताहै उतनाही जल लेताहै तैसेही वेदको जाननेंवाले मुमुक्षूको सबवेदोंमें तावान् अर्थात् सात्त्विककर्मही[1] योग्य है यह सिद्धांतहै ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ॥
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तुमको कर्म करनेंकाही अधिकार है परंतु बंधनहेतु जो कर्मोंके फल है उनमें कभी इच्छा मत करो और कर्मोंमें तथा फलमें हेतु नाम कर्त्ता मतहो और तुम्हारा संग अकर्ममेंभी मतहो अर्थात् कर्म नहींकरनेंमेंभी मतहो क्यों कि, निष्कामकर्म करनेंसेही मोक्ष होताहै ॥ ४७ ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे अर्जुन! वक्ष्यमाणयोगमें स्थितहोके राज्य बंधु आदिकोंमें संगको त्यागके जय पराजयकी सिद्धि असिद्धीमें समान होके युद्ध आदिक कर्म करो इस प्रकारसे समत्व रहनेंकोही योग कहतेहै ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

---

१ मोक्षका साधन कर्म्मही सात्विक कर्म है.

हे अर्जुन ! इस बुद्धियोगयुक्त कर्मसे अन्य कर्म अत्यंत निकृष्टहै अधम है इसलिये तुम इसही पूर्वोक्त बुद्धियोगविषैं रहो और दूसरा यह अर्थ है कि, बुद्धीके विषे रक्षक ईश्वरकी शरण होजावो और जो फलकी इच्छा करके कर्म करतेहैं वे मनुष्य कृपण, दीन है अर्थात् नित्यसंसारी होवेंगे ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

बुद्धियोगयुक्त जो मनुष्य कर्म करताहै वह सुकृत और दुष्कृत दोनों प्रकारके कर्मोंको त्यागदेताहै इसलिये इस कहेहुए बुद्धियोगके वास्ते कर्मयोगमें युक्तहो क्रियमाण कर्मकेविषे यह जो बुद्धि योगहै सो कौशल नाम अत्यंत सामर्थ्यकरके सिद्ध होताहै ॥ ५१ ॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ॥
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

कर्मोंके फलको त्यागके केवल ईश्वर आराधन कर्मोंको करते हुए पंडितलोग ज्ञानी हो जन्मरूपबंधनते निर्मुक्त हो संपूर्ण उपद्रव रहित विष्णूके मोक्ष नामक पदको प्राप्त होतेहै ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तुह्मारी बुद्धि मोहरूप दुःखको उल्लंघन करदेगी तब तुम सुननेंके योग्यकर्मोंके और सुनेहुए कर्मोंके वैराग्यको प्राप्त होजावोगे ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जबकि मुझसे श्रवण करके नित्य निरतिशय सूक्ष्मतत्वको प्रकाश करनेवाली एकरूपा तुम्हारी बुद्धि निष्काम कर्मके अनुष्ठान करके निर्मल मनमें स्थित होयगी तब योग अर्थात् आत्मतत्वके साक्षात्कारको प्राप्त होजावोगे ॥ ५३ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ॥
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

ऐसे सुन अर्जुन कहनेलगा-हे केशव ! समाधीमें स्थितहुए निश्चलबुद्धिवाले पुरुषकी क्या भाषा अर्थात् क्या नाम है और वह निश्चलबुद्धिवाला पुरुष कैसे बोलताहै कैसे बैठताहै और कैसे चलताहै ॥ ५४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ॥
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान कहनेलगे-हे पार्थ ! जब अपनें परमानंदस्वरूप आत्मामें आपही आत्माराम हुआ प्रसन्न रहताहै. और मनमें प्राप्त हुए विषयादिकोंकी तुच्छ कामनाओंको त्याग देता है. तब वह स्थितधी अर्थात् निश्चलबुद्धिवाला कहाताहै ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ॥
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःख प्राप्तहोवें तब मनमें व्याकुल नहीं होवे और सुखोंमें जिसकी इच्छा नहींहो प्रीति, भय, क्रोध, इन्होंसे रहित हो; वह मुनि स्थितबुद्धिवाला कहाताहै ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो सबजगह स्नेहरहित हो तिस तिस शुभ अशुभ फलको प्राप्त हो शुभकी तो प्रशंसा नहींकरै. और अशुभसे द्वेष, निंदा, नहीं करै किंतु केवल उदासीन बोलताहै. वह स्थिरबुद्धि कहाताहै ॥ ५७ ॥

यदा संहरते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वशः ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

जब यह योगी कछुवा जैसे अपनें सब अंगोंको समेट लेताहै तैसे इंद्रियनके रूप, रस, आदि विषयनमांहसे इंद्रियोंको रोकलेता है. तब इसकी बुद्धि निश्चल कहातीहै ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ॥
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

जो मनुष्य निराहार अर्थात् इंद्रियनके विषयोंको ग्रहण नहींकरताहै. उसकेभी विषय तो निवृत्त होतेहै. परंतु उनकी अभिलाषा निवृत्त नहींहोती. और विषयोंसे परे सुखरूप आत्मस्वरूपको जाननेंवाले मुनीकी इच्छाभी निवृत्त होजातीहै ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ॥
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ॥
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

हे कौंतेय ! मोक्षमें पतन करतेहुए पंडितजनकीभी प्रबल इंद्रियां हटकरके तिसके मनको हरलेती है. इसलिये तिन सबइंद्रियन

कों वशमें कर योगिजन मेरेविषै तत्पर होजावे, जिसकी इंद्रियां व-
शमें है उसकी बुद्धि निश्चलतासे स्थितहै ॥ ६० ॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ॥
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

विषयोंके चितवन करनेंवाले पुरुषका तिन विषयनमें संगहो-
जाताहै फिर संग होनेंसे तिनमें अधिक कामना होजाती है. फिर व-
ह कामना किसीप्रकारसे हतहोजावे तो उसमें क्रोध होताहै, क्रोधहो
नेसें संमोह करनें नहीकरनेंका विवेक नहीं रहताहै. पीछे तिस
संमोहसे शास्त्र आदि करके लब्ध हुई स्मृति नष्ट होजातीहै. फिर
स्मृति नष्ट होनेंसे बुद्धि नष्ट होजातीहै. फिर बुद्धि अर्थात् ज्ञानका ना-
श होनेंसे नष्ट होजाताहै. याने संसारमें भ्रमता फिरताहै ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ॥
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

प्रीति और द्वेषसेरहितहुए इंद्रियनकर उचित विषयमें लगीहुई
इंद्रियनसे विषयोंको भोगताहुआ वशमें मन रखनेंवाला पुरुष प्र-
साद अर्थात् शांतिको प्राप्त होताहै फिर प्रसन्नता; शांति होनेंके
[illegible] सब दुःखोंकी हानि होजातीहै प्रसन्नचित्तवालेकी बुद्धि
परमात्मपरहोतीहै ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ॥
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

जो इंद्रियोंको वशमें करके मेरेविषें मनको नहीं लगाताहै उसकै शास्त्र आचार्योंसे कहीहुई आत्मसंबंधी बुद्धि उत्पन्न नहींहोती. और उसकै भावना अर्थात् ईश्वरका ध्यानभी नहींहोता. और आत्माका ध्यान नहीं करतेहुये पुरुषकै शांति नहीहोती. शांतिरहित पुरुषको मोक्षका सुख कहांसे होताहै ॥ ६६ ॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ॥
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

वशमें कियेविना इच्छापूर्वक जो विषयोंमें इंद्रियां विचरतींहैं उनके पीछे जो मन लगलेताहै. वह मन इसपुरुषकी बुद्धीको हरलेताहै जैसे वायु जलमें चलतीहुई नावको भ्रमादेताहै. तैसे हे महाबाहो ! इसलिये जिसकी सबतरफसे इंद्रियोंके विषयोंसे इंद्रियां रोकीहुई हैं उसकी बुद्धि स्थिरहै ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ॥
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

जो सब अज्ञानीजनोंकी रात्रि अर्थात् रात्रीकी तरह जिसमें सो रहेहै ऐसी ब्रह्मनिष्ठा है तिस ब्रह्मनिष्ठामें संयमी अर्थात् इंद्रियोंको वशमें रखनेंवाला ज्ञानी जन जागताहै जिस शब्दादिक विषयरूप रात्रीमें सबप्राणी जागतेहैं वह आत्मतत्त्वको देखनेंवा प्रबल इंद्रि रात्रि है ॥ ६९ ॥ सबइंद्रियन

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविश-
न्ति यद्वत् ॥ तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥

जैसे स्वभावसे पूरितहुएभी समुद्रमें फिर अन्यभी नदियोंके जल आयके प्रवेश होतेहै और प्रवेश हुएपरभी समुद्र एकरूप रहताहै इसीतरह जिसके ब्रह्मज्ञान होनेसें सब कामना पूरित होगईहै सो वह शांतिको प्राप्त होताहै और जो कामनाओंकी इच्छा करनेवाला है वह शांति नहींपावता ॥ ७० ॥

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ॥
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरुष प्राप्तहुए विषयोंको त्याग और नहीं प्राप्त हुयोंमें इच्छाको त्याग निरपेक्ष ममतारहित अहंकाररहित होके विचरताहैं वह शांतिको प्राप्त होताहै ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-
ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

हे अर्जुन! इस प्रकार यह जो मैंने निष्कामकर्ममें स्थितिरूप कही ी ब्राह्मी स्थिति है, ब्रह्मप्राप्ति करनेंवाली स्थिति है इसमें अन्त-पु ...स्थित रहनेवाला पुरुष ब्रह्मआनंदको प्राप्त होजाताहै

परम...ालअवस्थाहीसे इसमार्गमें स्थित रहताहै उसकूं तो क्या कहनाहै.

और जो सदाही स्थित रहताहै, उसका तो क्या कथनहै ॥ ७२ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौड-वंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-
बुध-वसतिरामविरचितायां गीताश्लोकार्थटीकायां
द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ॥
तत् किं कर्माणि घोरे मां नियोजयासि केशव ॥ १ ॥

ऐसे श्रीकृष्णभगवानके वाक्य सुनके अर्जुनने विचारा कि भगवाननें पहले तो "अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्" इत्यादिक वचनोंसे मोक्षका साधनरूप करिकै देह और आत्माके विवेकवाली बुद्धीका उपदेश कहा पीछे "बुद्धियोगे त्विमां शृणु" इत्यादिक वचनों कर्म कहा तिनमें प्रधान गुण स्पष्ट नहींदिखाया फिरभी "एषा ब्राह्मी स्थितिः" ऐसा प्रशंसासहित उपसंहार करनेंसे बुद्धि कोई श्रे मानताहुआ अर्जुन कहनेलगा. हे जनार्दन! जो आपने कर्मसे बुद्धिही अधिकतर मानीहै तो हे केशव! मुझको इस घोरकर्मयुद्ध क्यों नियुक्तकरतेहो ॥ १ ॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ॥
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

ऐसे मिलेहुए वचनोंकरिकै मेरी बुद्धीको मोहतसे हो ...

१ आत्मावलोकनका कारण सर्वेंद्रियव्यापारोपरमी ... केवल इंद्रि... प्रशंसा और तद्विपरीतकर्म प्रशंसाके वचनोंकरके. जो ... सबइंद्रिय...

मैं कल्याणको प्राप्तहोवूं सो एक आप निश्चय करिकै कहो ॥ २ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ॥
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् कहनेंलगे हे निष्पाप अर्जुन! इसलोकमें पूर्वकालमें अथवा पहलेअध्यायमें मैंने दोप्रकारकी निष्ठा कहीहै. सांख्यवालोंको अर्थात् लोकके विषयोंमे बुद्धि नहीं करनेवाले किंतु आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवाले जनोंको तो ज्ञानकरिकै और विषयसे व्याकुल बुद्धिवाले मुमुक्षु योगीजनोंकेवास्ते कर्मनिष्ठा कही है ॥ ३ ॥

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ॥
नच संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

शास्त्रोक्त अपनें वर्णाश्रमके कर्म कियेविना पुरुष नैष्कर्म्य अर्थात् इंद्रियोंके विषय निग्रहपूर्वक ज्ञाननिष्ठाको नहीं प्राप्तहोताहै और चित्तकी शुद्धिविना संन्यास अर्थात् भगवत्आराधनरूप कर्मोंके त्यागसेभी सिद्धिको नहीं प्राप्तहोताहै ॥ ४ ॥

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ॥
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

कोईभी पुरुष किसीकालमेंभी क्षणमात्रभी निश्चयकरिकै कर्म कियेविना नहींरहताहै. क्यों कि, सबही जन सत्त्व आदि प्रकृतिके गुणोंकरिकै अवश हुये कर्म करतेहैं ॥ ५ ॥

---

१ यह है कर्मयोगकरके प्राचीनसंचित पापोंका नाशकर सत्वा- परमपूआधीन निर्मलअंतःकरणकरके ज्ञानयोग संपादनकरना.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ॥
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो पुरुष ज्ञानयोगमें प्रवर्त्त होनेकेलिये हठकरिकै इंद्रियोंको वशमें करिकै फिर मनमें विषयोंको स्मरण करतारहैहै वह मूढमति मिथ्याचार अर्थात् वृथा योगी कहाताहै ॥ ६ ॥

यस्त्विन्द्रियाणि मानसा नियम्यारभतेर्जुन ॥
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! जो इंद्रियोंको मनसे नियममें राखिकै विषयोंमें आसक्त हुएविना, कर्मेंद्रियोंकरिकै कर्मयोगको करताहै वह श्रेष्ठ कहाताहै ॥ ७ ॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः ॥
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

इसलिये तुम अपने वर्णके योग्य कर्मोंको करो क्यों कि, कर्म न करनेंसे कर्मका करनाही श्रेष्ठ है और कर्म कियेविना सब कर्म शून्यहोनेंसे तेरे शरीरका निर्वाहभी नहींहोगा ॥ ८ ॥

यज्ञार्थात् कर्मणोन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः ॥
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

कर्मोंसे जो बंधन कहाहै वह ऐसा है कि, यज्ञकेविना अन्यजगह कर्म करनेंसे यह मनुष्य बंधनको प्राप्तहोताहै. सो हे कौंतेय ! तुम फलासंगको छोडके तिसयज्ञके वास्तेही कर्म करो ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक् ॥ १०

पहले सृष्टिकालमें परमात्मा यज्ञसहित प्रजाको उत्पन्न करिकै यह कहतेभये कि, इसयज्ञ करिकै तुम वृद्धिको प्राप्तहो यह यज्ञ तुह्मारे मनोवांछितकामनाओंको पूरण करनेंवाला हो ॥ १० ॥

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ॥
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

तुम इसयज्ञ करिकै देवतोंको पूजिकै उनको बढावो फिर तुह्मारे पूजे बढायेहुए वे देव तुह्मारा मनोरथ पूरण करतेहुए तुमको बढावेंगे ऐसे आपसमें बढातेहुए तुम और देवता परमकल्याणको प्राप्त होवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥

यज्ञमें पूजितहुए देवते तुह्मारेको वांछितभोगोंको निश्चय देंगे और जो उनदेवतोंकरिके दियेहुए भोगोंको उनको दियेविना भोगताहै वह चोरहै ॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ॥
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

देवपूजनरूप यज्ञ अर्थात् सब देवतोंके अंतर्यामी विष्णु यज्ञसे उ-रेहुए अन्नको जो भोजन करतेहै वे संतजन सबपापोंसे छूटजातेहै. और जो आपहीकेवास्ते अन्नको पकातेहै वे दुराचारी पुरुष पापकोही भोगतेहैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ॥

परमपुरुषार्थलक्षण मोक्षकूं सिद्ध करनेवाले पुरुषोंको.

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अब कहतेहै कि, जगत्का चक्र प्रवृत्तिरूप, हेतु होनेंसेभी कर्म करनाहीचाहिये अन्नसे शुक्रशोणितरूप परिणाम हुएसे, प्राणीमात्र उत्पन्न होतेहै अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होतीहै और वर्षा यज्ञकरनेंसे होताहै यज्ञकी उत्पत्ति यज्ञकर्त्ताके कियेहुये कर्मसे होतीहै सो वह कर्म ब्रह्मसे होताहै ऐसा जानो यहां ब्रह्म नाम प्रकृतिका जानना क्यों कि, प्रकृतिहीका रूप शरीरहै उसशरीरसे कर्म होताहै तहां ऐसा कहेंगे कि, "मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इत्यादिकवचनोंसे यहां प्रकृतिकोही ब्रह्म जानना यह शरीर, अक्षर जो जीव, तिसकरिकै उत्पन्न होताहै अर्थात् जीवसहित शरीर कर्मकारक है. शरीरही कर्मकारक है. इसलिये सर्वगत अर्थात् सर्वाधिकारयोग्य शरीर यज्ञमें नित्य प्रतिष्ठित है अर्थात् यज्ञका मूलकारण है, इसप्रकारसे ईश्वरकरिकै प्रवर्त्तमान इसचक्रके अनुसार जो कर्माधिकारी अथवा ज्ञानाधिकारी नहीं प्रवर्त्तमान रहताहै अर्थात् यज्ञ आदि नहीं करताहै और केवल इंद्रियोंकाही आराम करताहै हे पार्थ ! वह पापकी आयुवाला पुरुष वृथा जीवताहै ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ॥ इंद्रियन

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

जिसको नहींकरनेंसे दोष नहींहोताहै वह ऐसा मुक्तही है यह कहतेहैं-जो पुरुष आत्मस्वरूपमेंही आनंदसे रहनेंवालाहो और आत्मस्वरूपसेही तृप्त रहै अन्नादिकसे कछु प्रयोजन नहींरक्खै और आत्मामेंही संतुष्ट रहै ऐसे पुरुषको कछु कर्म करना योग्य नहीं रहताहै और उसके कर्म करनेंसेभी यहां कछु प्रयोजन नहीं है और नहींकरनेंसेभी कछु नहीं है और उसको सबभूत प्राणीमात्रोंमें कोई ऐसाभी नहीं कि, जिससे कछु प्रयोजन है अर्थात् यह ऐसा पुरुष आत्मरूपके अनुभवमें मग्नरहताहै ॥ १७ ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ॥
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

जो कि, ऐसाही ज्ञानी मुक्तको कर्म करनेंका प्रयोजन नहीं है इसलिये तुम तो कर्मोंके फलके संगसे रहित होके करनेंकेयोग्य अपने वर्णधर्मके कर्मोंको निरंतर करो ऐसे फलकी इच्छासे रहितहोके कर्म करताहुआ पुरुष परमात्माको प्राप्त होताहै ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनक आदि ज्ञानीजनभी कर्म करनेंसेही मोक्षको प्राप्तभयेहैं और लोकका संग्रह अर्थात् मुझको कर्म करतेहुवेको देख अन्यभी लोग कर्म करैंगे ऐसाविचार करकेभी कर्म करनाही योग्यहै ॥ २० ॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ॥

१ तात्पर्य्य यह है ज्ञानयोगके अधिकारी पुरुषोंको कर्म्मयोगही आत्मश्रेयस्कर है.

स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

यहां यह कारण है कि, श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करताहै उसी-को दूसरे लोगभी करतेहैं और वह उत्तमपुरुष जिसवस्तूका प्रमाण करताहै उसीको अन्य सब लोगभी प्रमाण करलेतेहैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ॥
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

हे पार्थ ! मेरेको तीनों लोकोंमें कछु कर्त्तव्य नहींहै और कछु नहीं प्राप्त ऐसाभी नहीं और प्राप्त होनेंकेलायकभी नहीं किंतु सब मे-राही है परंतु तौभी लोगोंको सिखानेंकेवास्ते कर्म करनेंमें प्रवर्त्त-ही होरहाहूं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ॥
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

जो यदि मैं कभी सावधानहुआ कर्मोंको नहींकरूं तो हे पार्थ ! सब लोग मेरेही मार्गमें चलनेंलगें अर्थात् निरर्थकजानिकै वेभी क-र्मको नहींकरैं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ॥
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

ऐसे मेरे नहीं कर्म करनेंसे ये लोगभी कर्म नहींकरेंगे तब कर्म-लोप होनेंसे नष्टहोवेंगे तब मैं वर्णसंकरका कर्त्ता होऊं इसतरह मैंही मलिनकरनेवाला होजावूं ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ॥
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

हे भारत ! जिसतरह अज्ञानीजन कर्मके फलमें आसक्तहुए क-
र्मको करतेहैं इसीतरह विद्वान्पुरुषभी आसक्त भया, लोकसंग्रहकी
इच्छा कियेभये कर्मनको करे ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ॥
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानयुक्तभया कर्मनको करताहुआ विद्वान्पुरुष कर्म करतेहुए
अज्ञानीजनोंके बुद्धीमें भेद नहीं करवावे किंतु सब कर्मोंको प्रीति-
करके करवावे कर्ममें अश्रद्धा नहीं करवावें ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ॥
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ॥
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

हे अर्जुन ! सब कर्म प्रकृतिके सत्त्व आदि गुणोंकरके कियेभये
है सो अहंकारसे विमूढचित्तवाला पुरुष मैं कर्त्ता हूं ऐसा मान लेता-
है और जो सत्त्व आदि गुण तथा उनगुणोंके कर्मन… इच्छ…कें … जा-
ननेंवाला है सो जानताहै कि, गुण अपनें कार्योंमें युक्त किससे … मा-
नके तिनमें आसक्त नहींहोता ॥ २७ ॥ २८ ॥

प्रकृ… ॥ श्रीभगवानुवाच ॥
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान् कहनेलगे- हे अर्जुन ! इसपुरुषके जो यह रजोगुण-
हुआ काम है यह महाआहार करनेंवाला है अर्थात् अत्यंत

१ …आत्मज्ञानके अभ्यासकूं …रानेवाले.

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ॥
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

हे अर्जुन ! तुम आत्मस्वरूपविषैं चित्तकरके अर्थात् आत्मज्ञानकरके सब कर्मोंको सब भूतान्तर्यामी भूतसर्वेश्वर मुझमें समर्पणकरिकै आशा रहित हो और ममतारहित हो संतापरहित होके युद्ध करो ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ॥
श्रद्धावन्तोनसूयन्तो मुच्यन्ते तेपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

जो आत्मनिष्ठ शास्त्रके अधिकारी पुरुष इस मेरे मतको धारण करैंगे और इसशास्त्रार्थमें श्रद्धा रक्खेंगे इसमें कछु औगुन नहीं निकालेंगे वे सब कर्मबंधनोंसे छूट जावेंगे ॥ ३१ ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ॥
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

और जो [illegible] मेरे मतकी निंदा करतेहुए इस मेरे मतको ग्रहण नहींकरैं [illegible] करै ॥ [illegible]नियोंमें मूढ है इसलिये नष्ट हुएहै और अचेत अर्था[illegible] वाले है ऐसे उनको जानों ॥ ३२ ॥

उत्सीदेयुरि[illegible] [illegible]नपि ॥
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्र[illegible]नि ॥ ३३ ॥

ऐसे मेरे नहीं कर्म करनेंसे ये लोगभी कर्म नहींकरेंगे त[illegible]रूप स्व[illegible] लोप होनेंसे नष्टहोवेंगे तब मैं वर्णसंकरका कर्त्ता होऊं इसतरह [illegible] अर्था[illegible] मलिनकरनेवाला होजावूं ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ॥ [illegible] इंद्रि[illegible]
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २[illegible]में [illegible] द्रियन[illegible]

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ॥
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

इंद्रिय इंद्रियके विषयनमें प्रीति और द्वेष स्थित होरहेहै सो, उन रागद्वेषके वशमें नहींहोना वेही रागद्वेष इसके शत्रु है ॥ ३४ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ॥
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अपनें वर्ण आश्रमका जो अनुकूल धर्म है वह अत्युत्तम नहींभी है तोभी पराये अहिंसा आदि धर्मोंसे उत्तम है इसलिये इसअपनेंही क्षत्रियधर्ममें मरना श्रेष्ठ है और परायाधर्ममें मरनेंसेभी ज्यादे भय करनेंवाला है ॥ ३५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

अथ केन प्रयुक्तोयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला हे वृष्णिवंशोद्भव ! यह पुरुष, जैसे इच्छा कियेविनाही किसीको बलसे नियुक्त कररक्खाहो ऐसा नियुक्त किससे किया-हुआ पापका आचरण करताहै ॥ ३६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

श्रीभगवान् कहनेलगे- हे अर्जुन ! इसपुरुषके जो यह रजोगुण-[1] हुआ काम है यह महाआहार करनेंवाला है अर्थात् अत्यंत

[1] आत्मज्ञानके अभ्यासकूं रानेवाले.

विषयोंके सेवनसेभी तृप्त नहीं होताहै महापापी है और यही कामक्रोधरूप होजाताहै इसको तुम मोक्षमार्गमें वैरी जानों ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ॥
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

जैसे अग्नि धूंवासे आच्छादित रहताहै और दर्पण जैसे मैलसे आच्छादित होजाताहै जैसे गर्भ उल्ब, अर्थात् जेरसे ढकारहताहै इसी तरह इसकामना कहिये विषयवासना करिके यह आत्मज्ञान आच्छादित हुआरहताहै ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ॥
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

हे कौंतेय ! ज्ञानीपुरुषका नित्यवैरी ऐसे इसका स्वरूप दुष्पूर अर्थात् जिसको पूरण नहींकरसकैं अनल अर्थात् पूरनकरेसेंभी बढंताही जावै ऐसे कामसे ज्ञान आच्छादित होरहाहै ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

अब तिसकामनाके स्थानको कहतेहुए उसके जीतनेंके उपायको कहतेहै इंद्रिय, मन, बुद्धि, ये इसकामके अर्थात् विषयवासनाके अधिष्ठान है-इनइंद्रिय आदिकोंके व्यापार करके यह विषयवासना ज्ञानको आच्छादित करके जीवको मोहित करदेतीहै ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥

हे भरतर्षभ ! इसलिये तुम पहले इंद्रिय, मन, बुद्धि, इन्होंको

वशमेंकर, ज्ञानविज्ञानको नष्ट करनेंवाले इसपापी कामको अवश्य मारो ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

विद्वान् पुरुष ज्ञानके विरोधीकारणोंमें इंद्रियोंको प्रबल कहतेहैं और इंद्रियोंसे मनको प्रबल कहतेहैं मनसेभी प्रबल बुद्धि है जो बुद्धिसे परे है सो वो काम है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥ ॥

इस प्रकारसे कामको अर्थात् विषयवासनाको बुद्धिसेभी प्रबल स्वेच्छाचारी दुस्सह जानके हे महाबाहो ! इसकामरूप शत्रूको मारो ॥ ४३ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-
वसतिरामविरचितायां गीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

---

१ ज्ञानके विरोधी कामको.

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ॥
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् कहतेहैं हे अर्जुन ! जो यह कर्मयोग मैंने तुमसे कहा है इस अविनाशी कर्मयोगको पहले मैं सूर्यकेवास्ते कहताभया, सूर्यविवस्वान् मनुकेवास्ते कहताभया मनुजी इक्ष्वाकुराजाको कहतेभये ॥ १ ॥

एवं परंपराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ॥
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

ऐसे परंपरासे प्राप्त होतेहुए इसयोगको राजऋषि जानतेभये. परंतप ! सो अब यह योग बहुतकाल व्यतीतहोनेंसे नष्ट होग याथा ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ॥
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३

सोही यह पुरातनयोग अब मैंने तुह्मारे आगे कहाहै क्यों कि तुम मेरे भक्त हो, सखा हो और यह योग उत्तम रहस्य है अर्थ गुप्तरखनें योग्य है ॥ ३ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ॥ इ
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ इय

ऐसे सुन अर्जुन पूंछ[illegible] हे भगवन् ! आपका जन्म तो पीछे अब भया है और विवस्वान्सूर्यका जन्म पहले होताभया इसलिये, तुम पहले सूर्यकेवास्ते कहतेभये इसबातको मैं कैसे जानूं? ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ॥
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् कहते हैं- हेअर्जुन ! हे परंतप!! मेरे और तेरे बहुतसे जन्म व्यतीत हुएहैं. उन सबोंकों मैं जानताहूं और तुम नहीं जानते ॥ ५ ॥

अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन् ॥
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

अर्जुन शंका करै कि तुम ईश्वर हो तुम्हारे कैसे जन्म है तहां कहतेहैं—अव्ययात्मा अर्थात् अविनाशी सर्वातर्यामी मैं अजन्मा [illegible] ॥ था सबभूतोंका ईश्वर हुआभी अपनी प्रकृति अर्थात् [illegible]कार होनें- [illegible]रणागतरक्षा इत्यादिक अपनें स्वभावके आश्रितहोके फलमें मे- त अवतार लेताहूं मैं अपनी मायाकरके अर्थात् [illegible]ो कर्मोंकरिके [illegible]नसहित अवतार लेताहूं ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भ[illegible]ः ॥
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृ[illegible] ॥ १५ ॥

हे भारत ! जब २ धर्मकी ग्लानि होतीहै [illegible] नके कर्म कियाहै इस- बढजाताहै तब मैं आपनें अवतारको धारण [illegible] कर्मको करो ॥ १८

तु[illegible]

तात्पर्य यह है कि, परमात्माका अवतारप्र[illegible] करके इसश्लोकसें सूचित करतेहैं.

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधुजनोंकी रक्षाकेवास्ते और दुराचारी मनुष्योंके नाशकेवास्ते युगयुगमें धर्मको स्थापन करनेकेवास्ते मैं अवतार लेताहूं ॥ ८ ॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकारसे जो पुरुष तत्वसे मेरे जन्म कर्मोंको दिव्य जानताहै अर्थात् अलौकिक जानताहै वह शरीरको त्यागके फिर जन्म नहीं लेताहै मेरेको प्राप्त होजाताहै ॥ ९ ॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ॥
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥ १० ॥

...ग, भय, क्रोध, इन्होंसे रहित और सबजगह मुझकोही जाननें... परंतप ...र मेरेही आश्रितहुए ऐसे बहुतसे मनुष्य मेरे स्वरूपकी ज्ञा... याथा ॥ ...स्याकरिकै मेरी सदृशता, मोक्षको प्राप्त भयेहै ॥ १०

स ए...ां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
भक्तोऽ...वर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

सोही यह पुर...नुष्य सकाम, अथवा जो निष्काम कर्म करते... तुम मेरे भक्त हो, ... वेदमार्गमें प्रवृत्त होरहेहै परंतु जो मुझको जै... गुप्तरखनें योग्य है ॥ ...ही फल देताहूं अर्थात् कामनावालोंको स्वर्ग... ...ी मोक्ष देताहूं ॥ ११ ॥

अपरं भवतो सिद्धिं यजन्त इह ... ...ईद्धि
कथमेतद्विजानीके सिद्धिर्भवति कर्म... कार...इयन

कर्मोंकी सिद्धिकी इच्छा करतेहुए जो देवतोंका पूजन करतेहै उनके इस मनुष्यलोकमें शीघ्रही कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि हो जातीहै ॥ १२ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ॥
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥

गुण और कर्मोंके विभागसे मैंनें चारों वर्ण रचेहै अर्थात् सत्त्वगुणप्रधानवाले ब्राह्मण तिनके शम दम आदि गुण, सत्व रज प्रधानवाले क्षत्रिय तिनके युद्ध आदिकर्म रजस्तमप्रधानवाले वैश्य तिनके कृषि वाणिज्य आदिकर्म तमोगुणप्रधानवाले शूद्र तिनके शूश्रूषा आदिकर्म ऐसे विभागसे चातुवर्ण्य जगत् रचाहै उसका अविनाशी कर्त्ताकोभी मुझको अकर्त्ता जानों ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ॥
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

अब इस पहले श्लोकके अर्थको स्पष्ट दिखातेहैं निरहंकार होनेंसे मुझको कर्म आसक्त नहींकरते पूर्णकाम होनेंसे कर्मोंके फलमें मेरी इच्छाभी नहा है ऐसे जो मुझको जानताहै वहभी कर्मोंकरिके नहींबंधताहै ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ॥
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥

पहले जनकआदि मुमुक्षुजनोंकोभी ऐसे जानके कर्म कियाहै इससे तुम पहले होनेंवाले मुमुक्षुनसे कियेहुए कर्मको करो ॥ १५ ॥

फलसंग प्राचीनकर्मोंकरके.

करके

किं कर्म किमकर्मेति कवयोप्यत्र मोहिताः ॥
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

अब आगे जो कर्म कहाजावेगा उसका जानना दुर्लभ है यह कहतेहैं मुमुक्षु पुरुषोंको करनेंके योग्य कर्म क्या है और अकर्म अर्थात् आत्मयाथात्म्य ज्ञानका क्या स्वरूप है यहां विद्वान् लोगभी मोहित होतेहै अर्थात् यथार्थरीतिसे नहीं जानतेहै सो मैं तुम्हारे आगे उस कर्मको कहूंगा जिसके जाननेंसे तुम संसारबंधनसे छूट जावोगे ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ॥
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

मोक्षका साधनरूप कर्मका क्या स्वरूपहै और विकर्म अर्थात् नित्य नैमित्तिक काम्य आदि अनेकप्रकारके कर्मका क्या रूप है अकर्म अर्थात् आत्मज्ञानका क्या स्वरूप है यह जानना ! चाहिये कर्मकी गति जाननी गहना, दुर्लभ है ॥ १७ ॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ॥
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ १८ ॥

जो पुरुष निष्कामकर्ममें अकर्म अर्थात् आत्मज्ञानको देखे य विचारे कि इसी कर्मसे भक्तिरूपापन्न ज्ञान होवेगा और अकर्म अर्थात् आत्मज्ञानमें कर्म देखै कि कर्मसे उत्पन्न हुआ यह ज्ञान कर्म ही है ऐसे जो विचारे वह पुरुष सब मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह मोक्षके योग्य है सब कर्मोंको करताहै अर्थात् सब शास्त्रार्थका अ[illegible] करनेवाला है ॥ १[illegible]

[illegible]स्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ॥
[illegible]ाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १९ ॥

1. यस्य
2. ज्ञानाग्नि

प्रत्यक्षकरके कियेहुए कर्मको ज्ञानाकारता कैसे होजातीहै यहां कहतेहैं--जिसके द्रव्यसंचय आदि लौकिक वा वैदिक संपूर्ण कर्मोंके आरंभ संकल्पसे अर्थात् प्रकृति और याके गुण इनमें जो आत्माको एक समझना तिससे रहितऔर फलसंगसे रहित होजातेहैं ऐसे पुरुषको कर्मके अंतर्गतहुए याथात्म्यज्ञानरूप अग्निसे कर्मोंको दग्ध किये हुयेको बुद्धिमान् जन, पंडित कहतेहैं ॥ १९ ॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः॥
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किंचित् करोति सः ॥ २० ॥

कर्मोंके फलके संगको त्यागके नित्यस्वरूप आत्मामें तृप्त रहताहुआ अस्थिरस्वभाववाले संसारके आश्रय जो बुद्धि तिससे रहित हुआ पुरुष कर्मोंको करताहै तोभी कछु नहीं करताहै किंतु कर्मके मिषसे ज्ञानकाही अभ्यास करताहै ॥ २० ॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥

फलोंकी प्राप्तिकी आशासे रहित चित्तको यमन, वशमें कियेहुए संपूर्ण परिग्रहोंको त्यागनेवाला अर्थात् परमात्माकी प्रीतिके प्रकृति और प्राकृत वस्तुओंमें ममतारहित हुआ ऐसा यह पुरुष केवल शरीरसंबंधी कर्मको करताहुआभी कर्मबंधनरूप संसारको नहीं प्राप्त होताहै ॥ २१ ॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः॥
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥

तात्पर्य यह है कि ज्ञाननिष्ठ अव्यवधानरहित उक्तरूप कर्मयोगकरके स्वरूपका अवलोकन करलेता है.

जो कछु स्वतःसिद्ध आपही मिलजावे उसमें प्रसन्न रहै और सुख दुःख जय पराजय आदि द्वंद्वोंसे रहितहो पर पुरुषका सुख, न सहना ऐसी मत्सरतासे रहित, युद्ध आदिकोंकी सिद्धि तथा असिद्धिमें स मान रहनेंवाला ऐसा यह पुरुष कर्म करनेंसेभी बंधनको नहीं प्राप्त होता ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ॥
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

आत्मविषयक ज्ञानमें स्थितमन होनेंसे संगरहित हुये संपूर्ण परिग्रहोंसे विमुक्त हुए यज्ञकेवास्ते कर्म करते हुए ऐसे इस पुरुषके बंधनहेतु संपूर्ण प्राचीनकर्म नष्ट होजाते है ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ॥
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

अब संपूर्णकर्मको परब्रह्मके अनुसंधानसे युक्त होनेंसे ज्ञानाकारता कहतेहैं-यज्ञमें जिससे अर्पण कियाजाताहै ऐसा स्रुवा आदि ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मका कार्यहै जो अग्निमें हवन कियाजाताहै वह घृतआदि हव्यभी ब्रह्मका कार्यहै और ब्रह्मस्वरूप अग्निमें ब्रह्मरूप होताकरि होमा जाताहै ऐसे सब कर्म ब्रह्मात्मक होनेसे ब्रह्ममय है सो तिस ब्रह्मरूप कर्म समाधिसे ब्रह्मही प्राप्त होताहै ॥ २४ ॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ॥
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

ऐसे कर्मको ज्ञानाकारता कहके अब कर्मयोगके भेदोंको कहते हैं-कईक योगी तो देवार्चनरूप यज्ञकी उपासना करतेहै और कईक योगी ब्रह्मरूपअग्निमें यज्ञको अर्थात् ब्रह्मरूप घृतआदि द्रव्यको

यज्ञसाधनभूत स्रुवाआदिसे होमतेहै अर्थात् "ब्रह्मार्पणम्" इस श्लोकमें कहीहुई निष्ठाको करते है ॥ २५ ॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ॥
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

अन्य कितेक योगी श्रोत्र आदि इंद्रियनको संयमनरूप अग्निमें होमतेहै और कितेक योगी शब्द आदि विषयोंको इंद्रियरूप अग्निमें होमतेहै अर्थात् इंद्रियोंके शब्द आदि विषयोंमांहसे निवारण करतेहै ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ॥
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

अन्य कितेक योगी इंद्रियोंके सबकर्मोंको[1] और प्राणोंके कर्मोंको[2] आत्मज्ञानसे प्रदीप्त हुए मनस्संयमरूप अग्निमें होमतेहै अर्थात् कर्ममें प्रवृत्तहुई इंद्रियादिकोंको मनसे निवारण करनेंका यत्न करते है ॥ २७ ॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ॥
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥

कितेक योगी द्रव्ययज्ञ अर्थात् न्यायसे द्रव्य संच...र देवार्चन, दान, होम आदि करतेहै कितेक तपरूप अर्थात् व्रतनियम आदि यज्ञ करतेहै कितेक पुण्यक्षेत्र तीर्थ आदिपे वासकर योगरूप यज्ञ करते है तैसेही कितेक स्वाध्यायपठन पाठनके अभ्यासमें

...

[1] श्रवण स्पर्श आदि इन्द्रियोंके कर्म.

[2] आकुञ्चन (समेटना) प्रसारण (फैलाना) आदि प्राणवायूके कर्म्म हैं.

रहते है कितेक आत्मज्ञानका अभ्यास करते है कितेक यती अर्थ
यतनकरनेंमेंशील स्वभाववाले जन दृढसंकल्पवाले है ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ॥
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति ॥
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कितेक प्रमित आहार करनेंवाले योगिजन प्राणायाममें तत्
रहतेहै सो यह ऐसे तीनप्रकारके है कि, अपानवायूमें प्राणको हो
तेहै यह पूरक प्राणायाम हुआ कितेक प्राणमें अपानको होमतेहै
ह रेचक हुआ कितेक प्राण अपान इन दोनोंकी गतिको रोकके
णोंको प्राणोंमेंही होमतेहै यह कुंभक प्राणायाम हुआ ये सबही
गिजन यज्ञको जाननेंवाले और यज्ञकरिकै पापरहित है ॥२९॥३

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३

[illegible] भी ब्रह्मका ! ये ऐसे, यज्ञका अवशेष अमृतरूप अन्नके [illegible]
करने [illegible]ताहै ऐसे सनातन ब्रह्मका प्राप्त होजातेहै और जो यज्ञ नहीं
रताहै उ[illegible] समा[illegible]ह लोकभी नहींहै धर्म, अर्थ, काम येभी नहीं
होतेहै फिर [illegible]क्ष तो कहाते प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ॥
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३

ऐसे अनेक प्रकारके यज्ञ वेदमें विस्तारपूर्वक कहेहै ति[illegible]
कर्मसे उत्पन्नहुए जानों ऐसे जानके यथोक्तविधानसे अनुष्ठानकरनेसे
मुक्त होवोगे ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हेपरंतप अर्जुन ! द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है हे पार्थ ! संपूर्ण-कर्म ज्ञानमेंही समाप्त होजाते है अर्थात् ज्ञानकी प्राप्तिकेही वास्ते ही सब कर्म किये जातेहै फिर क्रमसे अभ्यास कियाहुआ कर्म ज्ञान-दशाको प्राप्त होजाताहै ॥ ३३ ॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ॥
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

सो वह आत्मज्ञान सत्कारपूर्वक प्रणामकर प्रश्नकरनेसे और तत्वदर्शी जनोंकी सेवा करनेंसे प्राप्तहोगा, तत्वदर्शी ज्ञानिजन तुमको आत्मज्ञानका उपदेश देंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ॥
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥

अब आत्मविषयक साक्षात्कार रूपज्ञानके लक्षणको कहतेहै-हे पांडव ! जिस आत्मज्ञानको जानके फिर देहादिकके विषैं आत्माभिमान ममता आदि ऐसे मोहको नहीं प्राप्तहोगे जिस ज्ञानकरिकै तुम संपूर्णभूतोंको अपनें आत्मामें तथा मेरे विषैं देखोगे क्योंकि प्रकृतिसे भिन्नहुये तुम तथा अन्य सब समानही है सो ऐसा कहैं-भी कि "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" अर्थात् ब्रह्म ब्रह्मशब्दवाच्य जीवात्मा ज्ञानैकाकार निर्दोष है सब जगह समानहै ॥ ३५ ॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ॥
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

यदि तुम सब पापियोंसेभी अधिकपापी हो तोभी आत्मज्ञान-

रूप नौकासे इस पूर्वसंचितपापरूपी समुद्रको तिरजावोगे ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥

हे अर्जुन! जैसे अच्छीतरह प्रज्वलितहुआ अग्नि संपूर्ण काष्ठको जलादेताहै इसीतरह आत्मयाथात्म्यज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण संचित कियेहुये कर्मोंको दग्ध करदेताहै ॥ ३७ ॥

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥

इस संसारमें आत्मज्ञानके सदृश अन्य कछुभी पवित्र नहीं है इस लिये आत्मज्ञान संपूर्णपापको नष्ट करदेताहै, सो यह पुरुष कछु कालमें ज्ञानाकार कर्मयोगसे[1] सिद्ध होके उस आत्मज्ञानका अपनेमें आपही प्राप्त होजाताहै ॥ ३८ ॥

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परस्संयतेन्द्रियः ॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥

ऐसे उपदेशसे आत्मज्ञानको प्राप्त हो, फिर इसहीमें श्रद्धा रखने वाला जितेंद्रिय पुरुष परिपक्वज्ञानको प्राप्त होता है ऐसे इस ज्ञान को प्राप्तहो फिर शीघ्रही मोक्षको प्राप्त होजाताहै ॥ ३९ ॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ॥
[illegible]यं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

जो ऐसे उपदेशसेलब्ध हुए ज्ञानसेरहितहो और इसमें श्रद्धा, धा

---

१ कर्म्मयोग ज्ञानाकारसे परिणत है अर्थात् कर्म्मयोगका ज्ञा[illegible] णाम है इससे ज्ञानाकार कर्म्मयोग हैं. [illegible]

रण नहींकरै और मनमें संशय रक्खै ऐसा यह पुरुष नष्ट होजाता-है अर्थात् संसारमें भ्रमता है मनमें संशय रखनेंवाले पुरुषको यह लोक सुखदायी नहा है और परलोकभी सुखदायी नहीं है कहीं सुख नहीं है फिर मोक्षप्राप्ति तो कहां है ॥ ४० ॥

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ॥
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥ ४१ ॥

हे अर्जुन! यथोपदिष्ट योगकरके जिसके कर्म ज्ञानाकारताको प्राप्त होगयेहों और यथार्थ आत्मज्ञान करिकै जिसके संशय दूर होगयेहों मनस्वी अर्थात् उपदिष्ट अर्थमें मनको दृढ रखनेंवाले ऐसे पुरुषको कर्म, बंधन नहीं करसकतेहै ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मना ॥
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

हे भारत! इसलिये तुम अज्ञानसे उत्पन्नहुए हृदयमें स्थित इस आत्मविषयकसंशयको आत्मज्ञानरूप खड्गकरके छेदनकरिके मेरे कहेहुए कर्मयोग करनेंकेवास्ते खडेहो ॥ ४२ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अ

...क मोह आदिदोषनको नाशकरनेवाला आत्मज्ञान.

अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ॥
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुन पूछताभया-हे कृष्ण! आप कर्मोंका संन्यास अर्थात् इ नको उत्तम कहतेहो फिर कर्मयोगकोभी सराहतेहै जैसे कि दू अध्यायमें तो मुमुक्षूको पहले निष्काम कर्म करना कहा कर्मयोग ही शुद्धअन्तःकरण हुयेपीछे ज्ञानयोगकरके आत्मदर्शन करना हके फिर तीसरे चौथे अध्यायमें ज्ञानयोगाधिकार दशाको प्राप्त पुरुषकोभी कर्मनिष्ठाही मुख्य कही सोही कर्मनिष्ठा ज्ञान नि की अपेक्षाकरके रहित आत्मप्राप्तिका साधन है यह प्रशंसाभी व इसलिये इन दोनुवोंमें जो एक श्रेष्ठ हो उसको मेरे आगे नि करके कहो ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २

श्रीभगवान् कहनेलगे संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयो दोनोंही मोक्षकी प्राप्तिमें श्रेष्ठ है फिरभी इनदोनुवोंमें कर्मसंन्यास र्थात् ज्ञानयोगसे कर्मोंका करनाही श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ॥
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमु

सो यह काहेसे है यह कहतेहै हे महाभुज! जो कर्मयोग

..र्मके बीचमेंही आत्मअनुभवसे तृप्तहुआ कछुभी नहींचाहता-है और किसीकीभी निंदा नहीं करताहै इसीहेतुसे द्वंद्व अर्थात् सुखदुःखादि रहित, नित्यज्ञानमें निष्ठावाला यह पुरुष सुखपूर्वक संसार-बंधनसे छूट जाताहै ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ॥
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

अब ज्ञानयोग और कर्मयोग मोक्षसाधनमें परस्पर निरपेक्ष है यह कहतेहैं-जो ज्ञानयोगको और कर्मयोगको अलग २ कहतेहै वे बालक अर्थात् अज्ञानी है पंडित नहीं इन दोनुवोंका फल आत्मदर्शी-नहीं है. इसलिये इनमांहसे एकको इसमेंभी स्थितहुआ पुरुष, दोनुवोंके फलको प्राप्त होताहै ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अब इसीको स्पष्ट कहतेहै—सांख्य अर्थात् ज्ञाननिष्ठावालोंको जो आत्मदर्शनरूप फल प्राप्त होताहै, वही कर्मनिष्ठावालोंको प्राप्त होताहै. इसलिये फलरूपसे जो ज्ञानयोगको तथा कर्मयोगको एकही देखताहै वही देखताहै अर्थात् पंडित है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ॥
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

इतना विशेष है यह कहतेहै- हे महाभुज! ज्ञानयोग तो कर्मयोगे-

...अभितो ब्रह्म ।नथा... विवेक चित्तशुद्धिके पूर्व कर्मयोगही संन्यासयोग-...स्वरूपके अनुभवजन्यसुख...द्धके विना ज्ञाननिष्ठाका होना असंभव है.

के विना प्राप्तहोना दुर्लभ है. और कर्मयोगमें युक्तहुआ मुनि ... त् आत्माका मननमें शीलस्वभाववाला जन शीघ्रही आत्माको प्राप्त होताहै ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ॥
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

जो निष्कामकर्मयोगमें युक्त है वह शुद्धमनवाला और सुखपूर्वक विजितमनवाला है इसलिये जितेन्द्रियभी है और आत्माके याथात्म्यज्ञानके अनुसंधान निष्ठाकरके देवादिसर्वभूतात्माको और अपने आत्माको एक आकारतावाला मानताहै क्यों कि, प्रकृतिसे भिन्न संपूर्णदेव आदि देहोंविषैं ज्ञानैककारतासे समानआकार है ऐसा यह पुरुष कर्म करताहुआ कर्मोंसे नहीं बंधताहै अर्थात् शीघ्रही आत्माको प्राप्त होजाताहै ॥ ७ ॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ॥
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छ-
न्स्वपन् श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ॥
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

ऐसा यह तत्ववेत्ता पुरुष श्रोत्रादि ज्ञानइंद्रिय तथा कर्मइंद्रिय अपने विषयोंमें वर्त्तरही है ऐसी धारणा करताहुआ, देखताहुआ, सुनताहुआ, स्पर्शकरताहुआ, सूंघताहुआ, भोजन करताहुआ, सोताहुआ, श्वास लेताहुआ, बोलताहुआ, छोडताहुआ, ग्रहण करताहुआ यह मानताहै कि, मैं कछुभी नहीं करूं बन्धात् प्रमु...

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ॥ ...

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यज! जो कर्मयोग...

लिप्यते न स पापेभ्यः पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

जो ब्रह्ममें अर्थात् प्रकृतिके कार्य शरीरमें स्थितहुई इंद्रियनमें पूर्वोक्त देखना सुनना आदि कर्मोंको धारणकरिके फलके संगको त्याग मैं कछुभी नहीं करताहूं ऐसा विचारके कर्म करताहै वह इस प्रकृतिसे मिलकर रहताहुआभी देहात्मा अभिमानरूप पापकरिकै लिप्त नहीं-होता जैसे कमलकापत्र जल करके नहीं लिप्तहोताहै अर्थात् नहीं डूबताहै तैसे ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ॥
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥

योगीजन फलासंगको त्यागके आत्मगत प्राचीनकर्मोंके विनाशकेवास्ते शरीर, मन, बुद्धि केवल इंद्रिय इन्होंकरके कर्मको करतेहै ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ॥
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ॥ १२ ॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ॥
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

आत्मासे अतिरिक्तफलोंमें आसक्त नहींहुआ एक आत्मामेंही निष्ठावाला जन कर्मफलोंको त्यागके केवल आत्माकी शुद्धिकेवास्ते कर्मानुष्ठानकरिकै स्थिर आत्मानुभवरूप शांतिको प्राप्त होजाताहै और आत्मासे अतिरिक्तफलोंमें आसक्त रहनेवाला पुरुष इच्छाकरके फलमें आसक्त होके कर्मकरिकै बंधजाताहै. अर्थात् वारंवार संसारी

अभितो ब्रह्म ।नंघा। विवेकज्ञान ज... मकूं प्राप्त होनेवाली प्रकृतिमें क-

वरूपके अनुभवजन्यसुखकरदेताहै. फलासक्तिरहित तुम कर्म करो.

होताहै. इसलिये संपूर्णकर्मनके कर्त्तापनको देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि इनके आकारकरिकै अवस्थित हुई प्रकृतिकेविषैं राखिकै प्राचीनकर्मसे संचयहुवा नवद्वार अर्थात् देहविषैं रहनेंवाला जीव देह संबंधी यत्नको आप नहींकरिकै केवल देहसेही करवाताहुआ सुखी रहैहै अर्थात् कर्मबंधको नहीं प्राप्तहोताहै ॥ १२ ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ॥
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अब साक्षात् आत्माके स्वाभाविकरूपको कहतेहैं यह देव, पशु, आदिरूप जो प्रकृतिसंसर्ग तिसकरिकै वर्तमानलोकके प्रभु कहिये कर्मके वशमें नहीं रहनेंवाला, स्वाभाविक स्वरूपकरके रहनेंवाला आत्मा, कर्त्तापनको और कर्मोंको उत्पन्न नहींकरताहै. और कर्मोंके फलके संयोगको नहीं करताहै. किंतु स्वभावही प्रवर्त्तमान होरहाहै. अर्थात् अनेकप्रकारकी वासनाकरके कर्तृत्व आदि है आत्मस्वरूप प्रयुक्त नहींहै ॥ १४ ॥

नादत्ते कस्यचित्पापं नचैव सुकृतं विभुः ॥
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

यह आत्मा किसहीभी संबंधी पुत्र आदिका पाप अर्थात् दुःखको नहींलेताहै दूर नहीं करसकताहै, और प्रतिकूलताकरके मानेहुएका किसीका सुकृतकोभी दूर नहीं करताहै क्यों कि, यह आत्मा विभु अर्थात् सर्वत्रएकरूप है किंतु ज्ञानका विरोधी जो पूर्व २ कर्म तिसकरके आत्मज्ञान संकुचित होरहाहै तिसही आत्मआच्छादकरूप कर्मसे देह संयोग और तहां २ अभिमानरूप मोह उत्पन्न होताहै॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

जिनपुरुषोंके आत्मयाथात्म्यज्ञानकरिकै अनादिकालसे प्रवर्त्त-हुआ कर्मसंशयरूप अज्ञान दूर होजाताहै उनकै सूर्यके प्रकाशसरीखा ज्ञान आत्मस्वरूपको प्रकाश करताहै यहां सूर्यके प्रकाशका दृष्टांत देनेंसे यह कहाहै कि, जो आत्मरूपको और ज्ञानको एक कहतेहै सो मूर्ख है इसप्रकरणमें वक्तव्य बहुत है संक्षेपसे अर्थ दिखायाहै ॥ १६ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

उसआत्माहीमें बुद्धि रखनेवाले उसहीमें मनवाले उसहीमें नि-ष्ठावाले जिनका वही आत्माही परमउत्तम स्थान है ऐसे अभ्यास-करके ज्ञानसे नष्ट हुएहै प्राचीन पाप जिनके ऐसे पुनरावृत्तिस्थान अर्थात् आत्माको प्राप्त होजातेहै मोक्षको प्राप्त होजातेहै ॥ १७ ॥

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ॥
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

विद्या तथा विनयसे युक्त ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तामें, चांडालमें, सबजगह आत्मयाथात्म्यको जाननेंवाले पंडितलोग स-मदर्शी होतेहै अर्थात् इनसबोंमें अपने सदृश आत्माको समानही जानतेहै ॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ॥
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

जिनका मन उक्तरीतिकरके सबोंमें आत्माकी साम्यतामें स्थि-

...नयुक्ता... र्य कहते है जैसे सूर्य सकल रूपजातका प्रकाश
अभितो ब्रह्म निर्वा... विवेकज्ञान जंतुवोंका अज्ञानका नाश करके
...वरूपके अनुभवजन्यसुखकरदेताहै.

तहै उनको इसीजगह अनुष्ठानकी साधनदशामेंही संसार जीतालियाहै क्यों कि, ब्रह्म सबजगह निर्दोष समान है अर्थात् प्रकृतिसंबंधसे रहित आत्मवस्तु सर्वत्र एकरूप है इसलिये सबजगह समता देखनेंवाले जन ब्रह्ममेंही स्थितहै अर्थात् वे मुक्तही है ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ॥
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

जिसप्रकारकरके स्थितहुए कर्मयोगीकै समदर्शनरूप ज्ञानका परिपाक होवै सोप्रकार कहतेहै प्रियवस्तुको प्राप्तहोके जो हर्षको नहीं प्राप्तहोवे अप्रियको प्राप्त होके जो उद्वेग चित्तकी अप्रसन्नता नहीं करै ऐसा स्थिर अर्थात् आत्माकेविषैं बुद्धिवाला आत्म अनात्म वस्तुका विचार करनेंवाला ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष ब्रह्मकी निष्ठावाला होवै ॥ २० ॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ॥
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

जो पुरुष ऐसे उक्तप्रकारसे आत्मासे व्यतिरिक्त जो विषय हैं उनमें मनको आसक्ति नहीं रखताहै और अपनें आत्मामेंही सुखको प्राप्तहोताहै वह प्रकृतिके अभ्यासको त्यागके ब्रह्माभ्यासमें युक्तमनवाला होके ब्रह्मानुभवरूप अक्षयसुखको प्राप्तहोताहै ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ॥
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

प्रकृ[2]तिके भोगोंको त्यागना ज्ञानीकों सुलभ है यह कहतेहैं-हे कौंते-

---

१ सर्ग शब्द सृज्यते इति सर्गः ऐसे व्युत्पत्तिसे ... [illegible]
२ तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुपुरुष प्राकृतभो[illegible] जो कर्मयोग [illegible]

जो शब्द स्पर्श आदि भोग है वे दुःखकी योनि है अर्थात् उत्तरकालमें दुःखही होताहै और ये भोग थोडेही कालतक लब्ध रहतेहै तिन भोगोंमें अध्यात्मवेत्ता पुरुष नहीं रमताहै ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ॥
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

शरीर छोडे पहले यहां अनुष्ठानदशामेंही आत्मानुभवकी प्रीतिकरके कामक्रोधसे उत्पन्नहुए वेगको सहनेंको जो समर्थ है वह युक्त है अर्थात् आत्मानुभव करनेंकेवास्ते योग्य है और वही मोक्षसुखको प्राप्तहोताहै ॥ २३ ॥

योऽन्तः सुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ॥
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

जो पुरुष आत्मामेंही सुखी रहताहै और आत्माकेही आधीन रहताहै और अंतर्ज्योति अर्थात् एकआत्मज्ञानसे युक्त हुआही वर्तताहै वही योगी है ब्रह्मप्राप्तिके उपायमें तत्परहुआ आत्मानुभवसुखको प्राप्तहोताहै ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ॥
छिन्नद्वैधायतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंसे विमुक्तहुए आत्मामेंही नियमित मन रखनेंवाले संपूर्ण भूतोंके हितमें रतहुए ऐसे आत्मावलोकनमें तत्पर रहनेंवाले जन पापोंसेरहित होके मोक्षको प्राप्त होजातेहै ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ॥
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

वरूपके अनुभवजन्यसुखको यद्वा आत्मस्वरूपके अनुभवरूपसुखको।

यह कहेहुए गुण जिनमें होवें उनको मोक्ष सुलभही है यह कहते हैं-यत्न करनेंवाले चित्तको नियममें रखनेंवाले, मनको जीतनेंवाले ऐसे जनोंके हाथमेंही मोक्ष है ॥ २६ ॥

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७
यतेन्द्रियमनो बुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥ विगते-
च्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

बाह्यइंद्रियेंके शब्दआदिविषयोंको त्यागके पीछे भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टि करके नासिकाके भीतर विचरनेवाले प्राण और अपान वायूको अर्थात् ऊपरके श्वास और नीचेके श्वासको समानकरके इंद्रिय, मन, बुद्धि, इनको वशमें कर जो मुनिजन मोक्षहीमें आसक्त हो और इच्छा, भय, क्रोध इनसेरहित हो वह सदा[1] मुक्तही है ॥ २७ ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ॥
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-
ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

कहाहुआ नित्यनैमित्तिककर्मको फलकी इच्छा त्यागके करना स्वरूप है यह कहतेहैं-सब यज्ञ और तपोंका भोक्ता संपूर्ण

१ साध्यदशाकीनाईं साधनदशामेंभी मुक्तस्वरूप है.

ईश्वर सबभूतोंका सुहृद ऐसे मुझको जानके शांतिको प्राप्त होजाताहै अर्थात् कर्मयोग करनेंमेंही सुखको प्राप्त होजाताहै ॥ २९ ॥

इति श्रीबेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां पञ्चमोध्यायः ॥५॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

कर्मयोग तो कहदिया अब ज्ञानकर्मयोगसें साध्य आत्मावलोकनरूप योगाभ्यासकी विधिको कहतेहै-तहां कर्मयोग जो है सो, निरपेक्षहुए योगाभ्यासका उपाय है इसको रहित हठकरनेंकेवास्ते योगाभ्यासमें समाप्तिवाला ज्ञानाकार कर्मयोगका अनुवाद करतेहै स्वर्गादिक कर्म फलके आश्रय नहींहुआ अपनें वर्णआश्रमके करनेकों योग्य कर्मको जो करताहै अर्थात् सर्वात्माकरके हमारा सुहृदभूत. परमपुरुषकी आराधनारूप कर्मही प्रयोजन है अन्यकछु साध्य नहींहै ऐसा विचारके कर्म करताहै वह संन्यासी है अर्थात् ज्ञाननिष्ठ है वही योगी है. कर्ममें निष्ठावाला है और जिसनें अग्निहोत्र आदियज्ञ तथा क्रियाकर्म त्यागाहै वह संन्यासी और योगी नहीं ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ॥
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

उक्त लक्षणवाले कर्मयोगमें ज्ञानयोगभी है यह कहतेहैं जिसको आत्मयाथात्म्य ज्ञान कहतेहैं उसको कर्मयोगही जानों क्यों कि आत्माके याथात्म्यको विचारकरके प्रकृतिमाहि आत्मसंकल्पके त्यागेविना कोईभी योगी नहीं होताहै ॥ २ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ॥
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

आत्मदर्शनको प्राप्तहोनेंकी इच्छावाले मुमुक्षूको कर्मयोगही ज्ञानप्राप्तिका कारण कहाहै और उसही योगारूढको अर्थात्, आत्मज्ञान प्राप्तभये मुनिको कर्मकी निवृत्तिही कारण है जबतक आत्मदर्शनरूप मोक्षकी प्राप्ति होवे तबतक कर्म करनाचाहिये ॥ ३

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ॥
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

प्रतिष्ठितयोगी कब होवे यह कहतेहैं-जब यह पुरुष एक आत्माही अनुभवस्वभाव होकर इंद्रियोंके जो आत्मव्यतिरिक्त अनेक प्रकारके विषय हैं तिन विषयोंमें और विषयसबन्धी कर्मोंमें आसक्त नहींहोताहै तब सर्वसंकल्प संन्यासी, अर्थात् संपूर्ण संकल्पोंको त्यागनेंवाला वह पुरुष योगारूढ कहाताहै ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

अब यह स्पष्ट करतेहैं-विषयोमें नहीं आसक्तहुए अपने मनसे के अपने स्वरूपका उद्धार करै विपरीतमन करिकै जीवात्मा

---

१ फलसंकल्पके त्यागसे चित्तविक्षेपका नहींहोनाही योगोहोनेका बीज इति श्रीधरः ।

अवसाद अर्थात् अधोगति न करना मनही जीवात्माका बंधु है और मनही जीवात्माका वैरी है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनाजितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

जिस पुरुषको आपही मन विषयोंसे जीतलिया उसका मनही उसका बंधु है और जिसको मन नहीं जीताहै उसके अपना मनही अपनें शत्रुपनेंमें वर्त्तताहै ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

अब योगारंभमें योग्य अवस्थाको कहतेहैं-शीत उष्ण, सुख दुःख, मान अपमान इनमें जिसको अपना मन जीतरक्खा हो अर्थात् विकाररहित मन हो और जो शांत हो उसके मनमें परमात्मा अर्थात् प्रत्यगात्मा समाहित कहिये स्वरूप करके अवस्थित है यहां परमात्मा शब्दसे जीवात्माकाही ग्रहण है ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ॥
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

ज्ञान नाम आत्मयाथात्म्यज्ञान, और विज्ञान अर्थात् आत्मअनात्मवस्तुका विवेक, इनकरके जिसकामन तृप्तहो और कूटस्थ अर्थात् देवआदि सर्व शरीरोंमे आत्माको समान जानके निर्विकार, हो इसीकारणसे जितेंद्रिय होनेंसे, कंकर, डला, पत्थर इनको समान समझनेंवाला, ऐसा योगी युक्त कहाताहै अर्थात् आत्मावलोकनरूप योगाभ्यासके योग्य है ॥ ८ ॥

---

१ ज्ञान नाम शास्त्रजन्य पदार्थज्ञान विज्ञान नाम अपरोक्षानुभव कोई ऐसाभी कहतेहै.

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ॥
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृत् कहिये आपसे उपकार किये विनाही जो हितकारी हं और मित्र नाम परस्पर हितकारी शत्रु, उदासीन अर्थात् मित्रत और वैरपनेंसे रहित मध्यस्थ कहिये जो सदाही प्रीति और द्वेष स मान रक्खै, सदा द्वेष रखनेवाले, बंधुजन, इनसबोंमे साधुवोंमें तथ पापियोंमें समान बुद्धि रखनेवाला योगी श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

एकांत जगहमें बेठाहुआ योगी जन आत्माको निरंतर युक्तक रै अपनें स्वरूपके दर्शनमें निष्ठा करै तहां अकेला बैठे चित्तवं वशमें कियेहुए संसारके फलोंकी आशाकरके रहित, संपूर्णपरि ग्रहोंको त्यागनेवाला, अर्थात् आत्मव्यतिरिक्तवस्तुमें ममताकरिके रहित ऐसा रहै ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

पवित्रदेशमें अर्थात् अशुद्धवस्तुमात्र और अशुद्धजनोंसे स्पृष्ट हींहुआ विशेष ऊंचा न हो न विशेष नीचा हो ऐसा और स्थिर अ ल आपका कुश मृगचर्म वस्त्र इन सबोंका उत्तरोत्तर बिछाइ आसन बिछायके तिसमनकी प्रसन्नता करनेंवाले आसनपै बै मनको एकाग्र कर चित्त और इंद्रियोंके कर्मको वशमें कियेहुए

पना बंधन छूटनेंकेवास्ते योगको युक्तकरै अर्थात् आत्माका अवलोकन करै ॥ ११ ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ॥
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ॥
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

काया अर्थात् मध्यका शरीर शिर, ग्रीवा इनको अचल, स्थिर, और समान राखेहुए अपनी नासिकाके सन्मुख दृष्टि देखताहुआ और दिशाको नहीं देखताहुआ प्रसन्न चित्तवाला भयरहित ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थितहुआ मनको वशमें कर मेरेविषे चित्त लगायेहुए आत्मनिष्ठपुरुष मेरेकोही चितवन करताहुआ बैठारहै ॥१३॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ॥
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

ऐसे मनको निश्चल वशमें रखनेवाला योगी इसीप्रकार सदा परब्रह्म पुरुषोत्तमरूप मेरेविषैं मनको लगाताहुआ निर्वाण अर्थात् आत्यंतिक, मेरेसदृश शांतिको प्राप्त होजाताहै ॥ १५ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः ॥
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

अब अन्यभी योगके उपकरणको कहतेहैं-हे अर्जुन ! अत्यंत भोजन करनेवालोका योग सिद्ध नहीं होताहै जो निरंतर कछुभी भो-

---

१ तात्पर्य यहहै कि संसारबन्धनके छूटनेकेलिये योग नाम आत्मावलोकन करै कोईक आचार्य ऐसा कहते है अन्तःकरणकी शुद्धिकेवास्ते कर्म्मयोग करै.

जन नहीं करै उसकाभी योग सिद्ध नहींहोता अत्यंत सोनेवाले और अत्यंत जागनेवालेकाभी योग सिद्ध नहींहोता ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ॥
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

नियमित, उनमानका स्वल्पभोजन करनेवाला युक्तविहार अर्थात् ऋतुसमयमेंही स्त्रीसंग करनेंवाला "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इत्यादिक वचनोंके प्रमाणसे जो अतिकामकी बाधा होनेंमें ऋतुसमयमेंही अपनी स्त्रीकेसंग मैथुन करताहै वहभी योगीही है और स कर्मोंमें नियमित चेष्टा करनेंवाला अर्थात् ज्यादै श्रमवाले कर्मक नहीं करनेंवाला प्रमाणसे सोनेंवाला प्रमाणसे जागनेंवाला ऐसे पुरुषके दुःखका नाशक, योग सिद्ध होताहै ॥ १७ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ॥
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

जब आत्मामेंही अतिनिश्चलहुआ चित्त स्थित रहता है. तब स कामनाओंकी इच्छासे रहितहुआ पुरुष युक्त अर्थात् योग योग्य कहाताहै ॥ १८ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ॥
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

विना वायुवाले स्थानमें धराहुआ दीपक जैसे चलायमान न होताहै अचलहोके प्रभासहित स्थित रहताहै तैसेही अन्य सबजगह चित्तको रोकनेंवाले, आत्मामें योगको युक्त करनेंवाले योगी उपमा कहीहै अर्थात् अचल ज्योतिवाले दीपककी तरह आत निश्चल होके ज्ञानप्रभाकरके सहित स्थितरहता ॥ १९ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

योगकी सेवाकरिके सबजगहसे रोकाहुआ चित्त जिसयोगमेंही उपराम करताहै अर्थात् अत्यंत सुख यही है ऐसे रमण करताहै और जिसयोगमें मनकरके आत्माको देखताहुआ आत्मामेंहीं प्रसन्न रहै ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

जो इंद्रियोंकरके ग्रहण नहीं कियाजावे केवल आत्मबुद्धि करके ग्रहण किहाजावे ऐसे अत्यंतसुखको[1] जो जिस योगमेंही जानताहै, अर्थात् अनुभव करताहै और जहां स्थितहुआ यह योगी सुखकी विशेषता होनेंसे आत्मस्वरूपसे[2] चलायमान नहीं होताहै ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

जिस योगको प्राप्तहोके उससे अधिक अन्य लाभ नहीं मानताहै और जिसयोगमें स्थितहुआ पुरुष बहुत भारी दुःखसेभी नहीं व्याकुल होताहै ॥ २२ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उस योगको दुःखके संयोगका वियोग करनेवाला अर्थात् दुःखनाशक योगनामक ज्ञान जानना सो वह योग निर्विकल्प चित्तकरके अर्थात् प्रसन्न चित्तकरके निश्चय कर करनाही चाहिये ॥ २३ ॥

---

१ इतरनिरपेक्ष. २ तत्त्वशब्द इहां आत्मस्वरूपका बोधक है.

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ॥
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः ॥ २४ ॥
शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥

स्पर्शसे उत्पन्नहुए जो शीत उष्ण आदि, और संकल्पसे उत्पन्न हुए पुत्र पौत्र क्षेत्र आदि काम हैं ऐसे इनसबप्रकारके कामोंको मनकरिके त्यागके अर्थात् तिनकेनिमित्त हर्ष और उद्वेगको त्याग के संपूर्ण विषयोंमाहसे सबइंद्रियनको रोकके धीरे धीरे विवेक विषयवाली बुद्धिकरिकै संपूर्ण आत्मव्यतिरिक्त विषयोंके माहसें उपरामको प्राप्त हो फिर आत्मस्वरूपमें मनको स्थिर कर कछुभी चितवन नहींकरै ॥ २४ ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

चंचलस्वभाववाला आत्मामें अस्थिर मन जहां २ बाह्य विचरता तहां २ से इसमनको हटाके आत्मामेंही अतिसुखकी भावनाकरि वशमें करै ॥ २६ ॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

जिसकामन आत्मस्वरूपमें निश्चल स्थितहै इसीहेतुसे दग्ध होगयेहैं संपूर्ण पाप जिसके, उसीतें नष्ट होगयाहै रजोगुण जिसका उसीतें जो अपनें स्वरूपकरिकै अवस्थित है ऐसे इसयोगीको आत्मानुभवरूप उत्तमसुख प्राप्तहोताहै ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

ऐसेही योगी सदैव मनको आत्मस्वरूपमें युक्त करताहुआ तिसीसे प्राचीनपापोंसे रहितहुआ ब्रह्मानुभवरूप अत्यंतसुखको विनाही परिश्रमसे प्राप्तहोताहै ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ॥
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

अब चारप्रकारकी योगविपाकदशाको कहतेहैं-प्रकृतिसे विविक्तहुए स्वात्मासेभिन्न जो प्रत्यगात्मा सो एकज्ञानही स्वरूपवाले हैं. और जो देव पशु आदि प्रकृतिगतजगत् होरहाहै उसमें विषमता है सो योगयुक्तात्मा अर्थात् प्रकृतिसे वियुक्तहुए संपूर्णआत्मामें सबजगह एकज्ञानस्वरूपकरके समान देखनेवाला पुरुष सर्वभूतोंमें स्थितहुए स्वात्माको और सबभूतोंको स्वात्मामें देखताहै अर्थात् सबभूतोंके समान आकार स्वात्माको और स्वात्माकेसमान आकार एकज्ञानस्वरूप सबभूतोंको देखताहै ॥ २९ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ॥
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

जो पुरुष सबजगह प्रत्यगात्मस्वरूपकरके स्थितहुए मुझको देखताहै अर्थात् पुण्यपापसे विनिर्मुक्त सर्वआत्मवस्तुको मेरीतुल्य देखताहै और सर्वआत्मवस्तुको मेरेविषें देखताहै ऐसे स्वात्मस्व-

१ जो पुरुष संपूर्ण प्राणिमात्रकूं मेरेविषे देखे तिसपुरुषके मैं अदृश्य नहींहूं वह पुरुष मेरे दृश्य नहींहै अर्थात् कृपादृष्टिसे उसपुरुषको अवलोकन करके मैं अनुग्रह करलेताहूं. इति श्रीधरः।

रूपको देखतेहुए तिसके मैं अदर्शनको नहीं प्राप्तहोताहूं और मेरेस-
मानही अपनें स्वात्माको देखताहुआ पुरुष सदा मेरेदर्शनकोहि
प्राप्त होजाताहै ॥ ३० ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ॥
सर्वथा वर्तमानोपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

अब योगकी तिसतेंभी विपाकदशाको कहतेहैं-योगदशामें जो
पुरुष सर्वभूतोंमें स्थितहुए मुझको विस्तृत एक ज्ञानही आकार
ताकरके एकत्वमें स्थितहुआ प्राकृतभेदका परित्याग करके सु
दृढ भजताहै वह योगी सर्वथा, वर्त्तमानभी अर्थात् समाधिमें वा वि
ना समाधिमेंभी मेरेविषैंही वर्तताहै अर्थात् स्वात्मामें और स
भूतोंमें सदा मेरीही साम्यताको देखताहै ॥ ३१ ॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

अब योगीकी परमदशाको कहतेहैं-जो पुरुष स्वात्माको औ
अन्योंके आत्माओंको ज्ञानैकआकारता करके स्वात्मामें तथा अ
न्य सबजगह वर्त्तमान पुत्रजन्म आदि सुख और तिनके मरण आ
दिके दुःखको, असंबंध साम्यतासेसमान देखताहै, वह योगी पर
उत्तम है परमयोग दशाको प्राप्त होरहाहै ॥ ३२ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ॥
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३

अर्जुन पूछताहै-हे मधुसूदन ! जो यह सबजगह साम्य

श्री राम तीर्थ आश्रम

करके सर्वत्र समदर्शनरूप योग तुमनें कहाहै इसयोगकी स्थिर स्थितिको मैं नहीं देखताहूं मनकी चंचलता होनेंसे ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

हे कृष्ण ! यह मन चंचल है प्रमाथि अर्थात् पुरुषको बलकरके मंथके अन्यजगह विचरताहै और अपनें अभ्यस्तविषयोंमें दृढ रहताहै ऐसे इसमनके निग्रहको अर्थात् रोकनेंको जैसे वायुका रोकना दुष्कर है ऐसे दुष्कर मानताहूं इसलिये मनके रुकनेंका उपाय कहो ॥ ३४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ॥
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

श्रीभगवान् कहनेंलगे-हे महाबाहो ! चलस्वभाव होनेंसे मनका रोकना कठिनही है इसमें संदेह नहीं तोभी निरंतर आत्मदर्शनके अभ्यासकरके और आत्मव्यतिरिक्त विषयोंमें दोषदेखके वैराग्य[1] करनेंसे किसीप्रकार मनका निग्रह होसकताहै ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ॥
वश्यात्मना तु यतता शक्यो वाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिसको मन नहीं जीताहै उसको बहुत बलसेभी योग, अर्थात् यहीं समदर्शन प्राप्त होना दुर्लभहै और जिसको मन वशमें कियाहै अर्थात् मेरे आराधनरूप अंतर्गतज्ञानवाले कर्मकरके मन जीताहै उसको यही समदर्शनरूप योग प्राप्त होसकताहै ॥ ३६ ॥

---

१ वैराग्य नाम आसक्तिका अभाव.

॥ अर्जुन उवाच ॥

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ॥
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

अब योगके माहात्म्यको यथार्थ सुननेंको अर्जुन पूछनेंलगा-हे कृ
ष्ण! जिसके अंतर्गत आत्मज्ञान है और योगाभ्यास जिसकी स
माप्तिमें है ऐसा भगवत्आराधनरूप जो कर्मयोग कहाहै उसक
माहात्म्य तो तहां कहही दियाहै परंतु श्रद्धाकरके योगमें प्रवर्
हुआ जन, दृढतर अभ्यासरूप यत्नकी विकलताकरके जो यो
की सिद्धिको प्राप्त हुयेविना योगसे चलायमान होजावे वह कि
गतिको प्राप्त होताहै ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ॥
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

हे महाबाहो! क्या उभय भ्रष्टहुआ मेघकीतरह अर्थात् जैसे ब
दल महामेघमाहसे चलके दूसरे महामेघ बादलमें जातेहुये मार्ग
ही खंडित होजाताहै इसीतरह ब्रह्मप्राप्तिसाधनमार्गसे भ्रष्टहुआ
रुष उभय भ्रष्टताकरके नष्ट होजाताहै अथवा नहीं यह मेरा प्र
है ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ॥
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

हे कृष्ण! इस मेरे संदेहको आप दूर करनेको योग्य हो प्र
करके एकवार सर्व वस्तुको सदा स्वतःही देखतेहुए तुमसे
अन्य कोई इससंदेहको दूर करनेवाला नहीं मिलसकताहै ॥ ३

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ॥
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

श्रीभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! श्रद्धाकरके ब्रह्म प्राप्तिमार्गमें लगाहुआ पुरुष जो उसमांहसे भ्रष्ट होजावे उसका इसलोकमें तथा परलोकमें नाश नहीं होताहै हे तात! निरतिशय कल्याणरूप योगको करनेंवाला कोई पुरुष त्रिकालमेंभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होताहै ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते ॥ ४१ ॥

यह कैसे होगा इसबातको कहते हैं—जिस जातिके भोगकी आकांक्षाकेवास्ते यह योगसे भ्रष्ट होताहै तैसेही पुण्य करनेंवालोंके लोकोंको प्राप्तहोके तहां भोगकी तृष्णा पूरी हो तबतक अनेक वर्षोंतक वासकरके पीछे शुचि श्रीमान् अर्थात् योगका आरंभ करनेंकेयोग्य जनोंके कुलमें उत्पन्न होताहै ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

और जो परिपक्व योगवाला पुरुष योगसे चलित होगया हो तो वह योगका उपदेश देनेंवाले पुरुषोंके कुलमें उत्पन्न होताहै ऐसा यह इन दोनोंयोग योग्य पुरुषोंके कुलमें जन्म होना प्राकृत जनको दुर्लभ है ऐसे यह योगका महात्म्य अतिसुंदर है ॥ ४२ ॥

---

१ लोकरीतिसे उपलालन करते भगवान्ने हे तात! यह संबोधन प्रयोग किया.

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ॥
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥ ४३ ॥

हे कुरुनंदन ! वह योगी तिसजन्ममें तिसही पूर्वदेहसे कियेहुए योगके विषयमें बुद्धिसंयोगको प्राप्त होजाताहै फिर सोके उठाहुआकी तरह संसिद्धिमें यत्न करताहै अर्थात् जिसमें फिर विघ्न न हो ऐसा यत्न करताहै ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः ॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्माऽतिवर्तते ॥ ४४ ॥

योगभ्रंश करनेवाली वासनाओंके आधीन हुआभी योगी तिस पूर्व अभ्यासकरकेही योगकोही प्राप्त होजाताहै और जो योगको जाननेकीही इच्छावाला पुरुष तिसयोगसे चलायमान होजावे वह भी शब्दब्रह्म अर्थात् प्रकृतिसंबंधसे विमुक्तहुआ देव मनुष्य आदिशब्दोंसे अतिरिक्त जो ज्ञानानंद आत्मा है उसको प्राप्त होजाताहै ॥ ४४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

अनेक जन्मोंसे संचित कियेहुए पुण्योंकरके संसिद्धहुआ पापों शुद्ध हुआ, प्रयत्नसे यत्न करताहुआ योगी योगसे चलित होग हो तोभी परमगतीको प्राप्त होजाताहै ॥ ४५ ॥

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योपि मतोधिकः ॥
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

अतिशय पुरुषार्थ निष्टताकरके योगीको सबोंसे अधिकता यह कहते हैं-जो केवल तपोंकरके पुरुषार्थ सिद्ध किया जाताहै

थवा आत्मज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानोंकरके तथा केवल अश्वमेधयज्ञ आदि कर्मों करके जो पुरुषार्थ सिद्ध कियाजाताहै इन सबोंसे यह पूर्वोक्त योगी श्रेष्ठ है हे अर्जुन! इसलिये तुम ऐसेही योगी[1] हो॥ ४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना॥
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अभ्यासयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

ऐसे परविद्याका अंगस्वरूप प्रजापतिवाक्यमें कहाहुआ प्रत्यगात्माका दर्शन यहांतक कहा अब परविद्याके प्रसंगको आरंभ करतेहैं-पहले कहे जो चार प्रकारके योगी उनसे उत्तम योगी यह वक्ष्यमाण लक्षणवाला मेरा संमत है तपस्वीसे आदिलेके संपूर्ण योगियोंसे श्रेष्ठ है जो कि मेरी प्रीतिसे भिन्न सब प्रयोजनकरके शून्य अर्थात् केवल मेरी प्रीतिके अभिप्रायवाला जो मन, ता मनकरके श्रद्धावान् अर्थात् मुझको अत्यंतप्रिय जानके क्षणमात्रभी मेरे वियोगको नहींसहके मेरी प्राप्तिकी प्रवृत्तिमें शीघ्रतावाला होके जो विचित्र अनंत भोग्य, भोक्तृवर्ग, भोगका उपकरण भोगस्थान इनसे परिपूर्ण सकलजगत्की उत्पत्ति रक्षा लय इनलीलाओंवाला तथा सबदोषोंके स्पर्शसे रहित अवधिशून्य सर्वोत्तमज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज आदि कल्याणगुणोंके समूहका आश्रय अपनेंको अभिमत और अपनें स्वरूपके योग्य, एकरूप, अचिंत्य, दिव्य, अद्भुत, नित्य, निर्दोष, सर्वोपरि उज्वलता सौंदर्य सौगंध्य सौकुमार्य लावण्य

१ अतिशयितपुरुषार्थमें निष्ठावाला योगी हो.

यौवन आदि अनंतगुणका आश्रय दिव्यरूपवाला वाणी तथा म-
नकरके अपरिछिन्न स्वरूप स्वभाववाला अपार करुणा सौशील्य वा
त्सल्य. औदार्य ऐश्वर्य इनगुणोंका समुद्र उच्च नीच समस्तलोकके
रक्षामें कटिबद्ध; शरणागतकी पीडाका निवर्त्तक आश्रित जनके ऊ
पर वात्सल्यगुणका निधि समस्तमनुष्योंके नेत्रोंके विषयकूं प्राप्त य
थावस्थित परिपूर्ण परब्रह्म वसुदेवजीके घरमें अवतार लेनेवाला अप
रिमेय विलक्षण अपनें तेजकरिके संपूर्णजगत्का प्रकाश करने
वाला अपनी मूर्त्तिकी कांतिकरके सकलविश्वको हर्ष करनेवाला
ऐसे मुझको भजताहै अर्थात् उपासना करताहै सो सबको सर्वदा य
थार्थ स्वभावसेही साक्षात् करतेहुए मैंनें सर्वोत्तम योगी माना है ॥४७

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वस-
तिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीगीताजीका प्रथमषट्क समाप्तभया ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ॥
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

पहले छह अध्यायोंकरके परमप्राप्य परब्रह्म निर्दोष सकल ज
त्का अनुपमेय कारण सर्वज्ञ सर्वरूप सत्यसंकल्प महाविभूति श्री
मन्नारायणकी प्राप्तिका उपायरूप जो ऐसे इस पूर्वदर्शित श्रीम

रायणकी उपासना कहनेंकेलिये इत्थंभूत उपासनाका अंगभूत आत्मज्ञानपूर्वक कर्मानुष्ठानसे साध्य प्राप्तहोनेंवाले प्रत्यगात्माका याथात्म्यदर्शन कहा अब मध्यम छह अध्यायोंकरके परब्रह्मभूत परमपुरुषका स्वरूप तथा भक्तिशब्दवाच्य उपासना कहतेहैं-सो आगे "यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्" इति यहांसेलेके "विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते" "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति" "समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" ऐसे २ वचनोंसे कहेंगे भक्तिरूपापन्न उपासना परमप्राप्तिका उपाय है यह वेदान्त वाक्योंकरके सिद्ध है क्यों कि "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति" "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इत्यादिक वाक्योंसे कहाहुआ जो ज्ञान सो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" "आत्मानमेव लोकमुपासीत" "सत्वशुद्धो ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादि वचनोंकी एकवाक्यता होनेंसे स्मृतिसंतानरूप दर्शन समानाकार ध्यान उपासना आदिशब्दवाच्य है ऐसा सिद्ध होताहै फिर "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यै स आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" इसवचनके साथभी आवश्यक एकवाक्यता होनेंसे परमपुरुष नारायणनें जो चेतनका अंगीकार करना ताका हेतु चेतनकी स्मृतिका विषय जो परमपुरुष तिसको परमप्रिय होनेसे आपभी अत्यंत प्रियरूप जो स्मृतिसंतान सो उपासना शब्दवाच्य है ऐसा निश्चय कियाजाताहै सोही उपासना "स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः" इत्यादि वचनोंसे भक्तिरूप कहिये इसप्रकारसे "तमेवं विद्वान्" इत्यादि पूर्वोक्तश्रुतिवाक्योंका तथा "नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च

तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" इनदोनोंवाक्योंकी एकार्थता सिद्धहु
तहां सातवांअध्यायमें आदिमें उपास्यभूत परमपुरुषस्वरूपक
याथात्म्य और प्रकृतिकरके इत्थंभूत स्वरूपका तिरोधान अ
र्थात् अज्ञान और इसतिरोधानकी निवृत्तिकेलिये भगवान्व
शरणागति; और उपासकोंका भेद और ज्ञानीकी श्रेष्ठता क
तेहैं-मेरेविषै आभिमुख्यकरके आसक्तमनवाला अर्थात् मेरेव
अतिप्रिय जानके मेरा स्वरूप तथा गुण तथा चेष्टित तथा मेरी वि
ति इन्होंसे वियुक्त होनेपर उसही क्षणसे आपको असत्प्राय मा
नेंकरके मेरेविषैं सुदृढ मनको लगानेंवाला और आप मेरेविना अ
पनी सत्ताको नहीं माननेंकरके एक मेरैही आश्रयहुआ मेरेविषै यो
ग करनेंको प्रवर्त्तहुआ तू योगका विषयीभूत जो मैं हूं तिसने संशय
हित सर्वथा जिस ज्ञानकरके जानेगा उसज्ञानको सावधान मनव
ला होके सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ॥
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

मैं मद्विषयक इसज्ञानको विज्ञानकरके सहित संपूर्ण प्रकारक
तुमसे कहूंगा विज्ञान नाम विविक्ताकार विषयकज्ञानका है सो
स ज्ञानकरके फिर मेरेविषै अन्य कछु जानना अवशेष
हींरहेगा ॥ २ ॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ॥
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

अब वक्ष्यमाण ज्ञानकी दुर्लभता कहैहै-हजारों मनुष्योंमें

१ जिनकी शास्त्राधिकारमें योग्यता है सो यहां मनुष्य शब्दसे गृहीतहै.

एक पुरुष आत्मज्ञान सिद्धिकेवास्ते यत्न करताहै और सिद्धिपर्यंत यत्न करतेहुए योगियोंमेंभी मुझको तत्वकरके कोई एक जानताहै सो वही महात्मा दुर्लभ है ॥ ३ ॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरे यमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ॥
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

हे महाबाहो! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ऐसे इन आठप्रकारोंवाली यह एक मेरी प्रकृति है और हे महाबाहो! जीवरूप और भोक्तृत्वकरके प्रधानभूत चेतन रूपवाली मेरी अन्य दूसरी परा नामवाली प्रकृतिकोभी जानों जिस पराप्रकृतिकरके यहसंपूर्ण अचेतन जगत् धारण कियाजाताहै ॥ ४ ॥ ५ ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६

यह चेतन अचेतन संपूर्ण समष्टिरूप विश्व मेरीही
प्रकृतियोंकरके उत्पन्न होताहै ऐसे जानों और मैं संपूर्ण जगत्
त्तिस्थान और प्रलयस्थान हूं॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।'१३ ॥
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इस्यया ॥
हे धनंजय! मुझसे न्यारा कोई ज्ञानकरन्ति ते ॥ १४ ॥

यह संपूर्ण विश्व जैसे सूतमें मणिपोई रहतीहै इसीतरह मेरेविषें प्रो
तहै अर्थात् पोयाहुआहै ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ॥
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

सबप्रकारसे परमपुरुष मैंही अवस्थित हूं यह दिखाते है-हे कौंतेय
जलमें रस चंद्रमा और सूर्यमें प्रभा अर्थात् कांति मैं हूं और वेदों
ओंकार आकाशमें शब्द मनुष्योमें पुरुषार्थ मैं हूं अर्थात् ये सब वि
लक्षणभाव मुझसेही उत्पन्नभयेहै-अंतमें मेरा स्वरूपहै मेरेशरीर स्व
रूपकरके मध्यमें अवस्थित है इसलिये तिनके प्रकारोंसे मैंही अव
स्थित हूं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ॥
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पृथ्वीमें पवित्र गंध, और अग्निमें तेज मैं हूं. संपूर्ण भूतप्राणिये
में जीवन स्वरूप मैं हूं और तपस्वियोंमें तपस्वरूप मैही हूं ॥ ९

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ॥
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥

हे पार्थ! मुझको संपूर्णभूतोंका उत्पत्ति कारण सनातन बीज
और बुद्धिवालोंके बुद्धि हूं तेजवालोंके मैं तेज हूं ॥ १० ॥

यततत्पर्य यह है कि संपूर्ण यह वस्तुजात (कार्यावस्थ कारणावस्थ)
अब वक्ष्यमाण "यस्य पृथ्वी शरीरं, यस्यात्मा शरीरम्, एष सर्वभूतान्तरा
एको नारायणः" इत्यादि श्रुतियोंसे शरीर शरी

१ जिनकी शास्त्राधिकारऽद्ध है.

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ॥
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ ॥ ११ ॥

हे भरतर्षभ! कामरागसे वर्जित अर्थात् जो प्राप्त नहींहो उनविषयोंमें तृष्णा करनी और अनुराग करना तिसकेविना, बलवालोंका बल मैं हूं और संपूर्णभूत प्राणिनमें देहधारणमात्र भोजनपान आदि धर्मसे अविरुद्धकाम हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ॥
मत्त एवेति तान्विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

और जो जगत्में भोग्यत्वकरके वा देहत्वकरके वा इंद्रियत्वकरके तिस २ हेतुसे अवस्थितहुए शम आदि सात्विकभाव और द्वेषआदि राजसभाव तथा मोहआदि तामसभाव अवस्थित हैं तिनसबोंको मेरेसेही उत्पन्नहुए जानों और मैं उनमें नहींहूं वेही मेरेविषैं हैं तात्पर्य मेरा केवल लीलाकाही प्रयोजन है ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ॥
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥

सो यह चेतन अचेतन स्वरूपजगत् मेराही शरीर है समय २ में मुझसेही उत्पन्न होताहै मेरेविषैंही लीन होजाताहै सो यह जगत् इनसत्वआदि तीनगुणोंकरके मोहितहुआ ऐसे मुझको इन सत्व आदिगुणोंसे परे अर्थात् अपरिमितकल्याण गुणोंकरके सर्वोत्कृष्ट सदा एकरूप और अविनाशी ऐसे नहीं जानताहै ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ॥
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

सत्व आदि गुणमयी दैवी अर्थात् मुझसेही निर्मित कीहुई जे
यह मेरी माया है सो दुरत्यय है इसलिये जो मेरी शरणहोतेहै वेही इ
समायाको तरतेहै यहा मायाशब्दार्थ प्रकृति है मिथ्यापर्य्याय न
हींहै इसमें युक्तिप्रमाण बहुत है विस्तार बढनेंसे नहीं लिखाहै ॥ १४ ॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ॥
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

दुष्कृति पापकर्मी नरोंमें अधम[2] पुरुष मुझको नहीं प्राप्त होतें
क्योंकि मायाकरिके हरागयाहै ज्ञान जिनका ऐसे वे मूढजन आसुर
भाव अर्थात् असुरपनेंको प्राप्त होरहेहै ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ॥
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! आर्त्त अर्थात् प्रतिष्ठाहीन भ्रष्टऐश्वर्यवाले फिर तिस
की प्राप्तिकी इच्छावाले, अर्थार्थी, अप्राप्तऐश्वर्य होनेंसे ऐश्वर्यक
इच्छावाले, जिज्ञासु अर्थात् प्रकृतिसे वियुक्त आत्मस्वरूपको प्र
प्तहोनेकी इच्छावाले, आत्मज्ञानी अर्थात् केवल भगवान्का शे
षत्व यहीं एकरस, आत्मस्वरूपको जानके प्रकृतिविनिर्मुक्त के
वल आत्मामें असंतुष्ट होके भगवान्कोही परमप्राप्य माननेंवाल
ऐसे ये चारप्रकारके सुकृतिपुरुष मुझको भजतेहै ॥ १६ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ॥
प्रियो हि ज्ञानिनोत्यर्थमहं सच मम प्रियः ॥ १७ ॥

---

१ अर्थात् मायाका त्यागकरके मेरी उपासना करतेहै.

२ यद्यपि मेरे स्वरूपकूं जो नर जानतेभी है तथापि वह नर मेरे सन्मुख न
हीं होते इससे वह नर अधम है.

तिनमें आत्मज्ञानी श्रेष्ठ है क्यों कि नित्ययोगयुक्त और एक मेरीही भक्तिवाला ऐसा ज्ञानी है इसलिये ज्ञानीको मैं अत्यंतप्रिय हूं और वहभी मुझको अत्यंत प्रिय है ॥ १७ ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

ये संपूर्णही भक्त उदार है परंतु ज्ञानी तो मेरा आत्माही है अत्यंतप्रिय है यह मेरा मत है क्यों कि वह मेरेविषैंही मनको युक्तकियेभये मुझकोही सर्वोत्तमको प्राप्तहोके स्थित रहताहै इसलिये तिसकेविना मेराभी आत्माका धारणसंभव नहींहोताहै इसलिये वह मेरा आत्माही है ॥ १८ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुतजन्मोंकेअंतमें मैं एक वासुदेवभगवान्कीही सेवा करनेंयोग्य हूं तथा वासुदेवकेही आधीन मेरा स्वरूपस्थिति प्रवृत्ति है तथा वासुदेवभगवान् अनंतकल्याणगुणयुक्त होनेंसे मेरे सेव्य है ऐसा ज्ञानवान् होके जो पुरुष वासुदेवही मुझको परमप्राप्य है और वासुदेवही मेरा परमउपाय है जो कछु अन्यवस्तु है वहभी सब मुझको वासुदेवही स्वरूप है ऐसे मुझको निश्चय जानके रहताहै वह महात्मा लोकमें अतिदुर्लभ है ॥ १९ ॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ॥
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया ॥ २० ॥

अब ऐसे महात्माकी दुर्लभताको स्पष्ट करतेहै-सबही लौकिकपुरुष अपने प्रकृति, वासनाकरके नित्ययुक्तहुए तिन २ अपनी

वासनाके अनुरूप गुणमय विषयभूत कामोंकरके हरागया है मद्विष
यकज्ञान जिनका ऐसे होके अन्यदेवताको प्राप्तहोके तिस २ देवता
को प्रसन्नकरनेंकेवास्ते तिनही देवतोंके नियममें प्राप्तहोके तिन
काही पूजन करतेहैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ॥

तस्य तस्याऽचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

"य आदित्ये तिष्ठन्यमादित्यो न वेद" "यस्यादित्यः शरीरम्"
इत्यादिकश्रुतियोंकरके प्रतिपादित वेभी देवता मेरेही शरीर है ऐसें
नहीं जानताहुआभी जो जो भक्त जिस २ मेरे इंद्र आदिकशरीरको
श्रद्धाकरके भजनेकी इच्छा करताहै मेरा शरीररूपकरिके नहीं
जानतेहुए तिस २ केभी यह श्रद्धा मेरा शरीरविषयिक है ऐसे मैंही
उसको वही श्रद्धा निर्विघ्न[१] विधान करदेताहूं ॥ २१ ॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ॥

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ॥ २२ ॥

फिर तिसही अचलश्रद्धाकरके युक्तहुआ वह भक्त तिसही इंद्र
आदि देवताका आराधन करताहै तब मेरे शरीररूप इंद्र आदिदेवतों
के आराधानसेही मेरेहीविहितकियेहुए अपनें अभिलषित मनो
रथोंको प्राप्तहोताहै ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ॥

देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

तिनअल्पबुद्धिवाले इंद्र आदिकोंका पूजन करनेंवाले भक्तोंके
आराधनका वह फल नाशवान[२] होताहै क्यों कि देवतोंका पूजन क

१ निर्विघ्न. २ परिच्छिन्नभोगवाले तथा परिमितकालमें रहनेवाले.

नेंवाले देवयोनिकोही प्राप्त हो तहां पुण्य क्षीण होनेंमें उसस्थानसे-नीचेही आजातेहै और मुझको भजनेंवाले मुझकोही प्राप्त होजातेहै अर्थात् फिर जन्मनहीं लेतेहै॥ २३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः॥
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ २४॥

अन्य कईक तो परमभाव मुझको नहीं जानतेहुए अर्थात् मैं सबकर्मोंकरके आराध्य हूं सर्वेश्वर हूं वाणी मन करके अपरिछेद्य स्वरूप और स्वभाववाला हूं परमकारुण्यसे शरणागतोंकी वात्सल्यतासे सबोंको अंगीकार करनेंकेलिये अपने स्वभावको नहीं त्यागताहुआही वसुदेवका पुत्ररूपकरके अवतार भयाहूं ऐसे मेरे परमभावको अविनाशीको सर्वोत्तमको नहीं जानतेहुए, प्राकृतराजपुत्रकीतरह अबसे पहले अप्रकट था अब कर्मकेवशसे जन्मविशेषको प्राप्तहोके, प्रकट भयाहै ऐसा मुझको वे मूर्खलोग मानतेहै इसहेतुसे कर्मोंकरके मेरा आराधन नहीं करतेहै॥ २४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः॥
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥ २५॥

यहां न जाननेका कारण यह है कि मेरा मनुष्य आदि होना यही एक योगमाया इसयोगमाया करके आच्छादितहुआ वायु, इंद्र, सूर्य, अग्नि इनसे विलक्षणशक्तिवाला मैं संपूर्णको प्रकाशित नहींहूं सो अजन्मा अविनाशी जो मैं हूं तिसमुझको मनुष्यशरीरमें स्थितहुएको मनुष्यसदृशमात्र देखनेंसे मूढहुआ यह लोक यह ईश्वर है ऐसा नहीं जानताहै॥ २५॥

---

१ अपने आश्रितपुरुषोंके दोषोंकूं भोगरूप माननेंसे.

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ॥
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

हे अर्जुन ! मैं व्यतीतहुये और वर्त्तमान, तथा होनेंवाले, सब भूत प्राणीमात्रोंको जानताहूं और मुझको कोइभी न जानताहै अर्थात् मेरे करके अनुसंधीयमान त्रिकालवर्ती भूतोंमें ऐसे प्रकारवाले मुझको वासुदेवको सर्वसमाश्रयणीयताकरके अवतार लियेहुएको जानके केवल मेरेही आश्रित होताहुआ कोईही मिलताहै अर्थात् ज्ञानी सुदुर्लभ है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ॥
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! सब भूतप्राणिमात्र इच्छाद्वेषसे उत्पन्नहुए सुख दुःख, लाभ अलाभ, आदि द्वंद्वरूप मोहकरके जन्मकालमेंही मोहको प्राप्त होजातेहैं अर्थात् गुणमय सुखदुःखमेंही पूर्वजन्मका अभ्यास है इसलिये यहां तिन सुख, दुःख, आदिकोंके वियोगमेंही दुःखी, सुखी, होतेहैं और मेरे संयोगमें तथा वियोगमें सुख दुःख स्वभाववाले नहींहोतेहैं ज्ञानी तो मेरे संयोगविमोगमें सुखी दुःखी होताहै ॥ २७ ॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि जिस विषयके रागद्वेष अभ्यस्त होतेहै तिस विषयकी वासनाकरके फिरभी जन्मकालमें वही भूतोंको रागद्वेषका विषयमोह उत्पन्न होताहै.

जिनके अनेकजन्मोंसे संचित कियेहुए पुण्यकर्मोंकरके यह पूर्वोक्त पाप नष्ट होजाताहै वे अपने पुण्यके अनुसार सुख, दुःख, आदि-द्वंद्वनके विमोहसे छुटेहुए मेरी प्राप्तिकेवास्ते दृढसंकल्प कियेहुए मुझकोही भजतेहैं ॥ २८ ॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ॥
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

प्रकृतिसे भिन्न आत्मस्वरूपके दर्शनकेवास्ते जो मेरे आश्रय होके यत्न करतेहै वे तिसब्रह्मको जानतेहै और संपूर्ण अध्यात्मको जानतेहै और संपूर्णकर्मको जानतेहै ॥ २९ ॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ॥
प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जोपुरुष मुझको अधिभूतसहित और अधिदैवसहित जानतेहैं तथा अधियज्ञसहित जानतेहैं. वे मेरेविषैं चित्त लगायेभये मरणसमयमेंभी मेरेको जानतेहै इनसब अधिभूत आदिकोंका खुलासा अर्थ आगले अध्यायमें कहैंगे ॥ ३० ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ॥
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोत्र देहेस्मिन्मधुसूदन ॥
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

अब आठवें अध्यायमें पूर्व कहेहुए जो ज्ञातव्य और ग्रहण करने योग्य जो अनेकभेद, उनको न्यारे २ दिखातेहैं- अर्जुन पूछताभया पुरुषोत्तम! जरा, मरण, इनसे छूटनेंकी इच्छा करनेवालोंकेवास्ते ब्रह्म तथा अध्यात्म, तथा कर्मका क्या स्वरूप है ? और ऐश्वर्यकी इच्छावालोंको जाननेकेवास्ते अधिभूत और अधिदैव क्या वस्तु है और इनतीनोंको ज्ञातव्य, अधियज्ञ वस्तुका क्या स्वरूप है हे मंधुसूदन! इस देहकेविषैं अंतसमयमें इननियतआत्मावाले तीनोंनेंही आप कैसे जाननेंको योग्यहो ॥ १ ॥ २ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावो ऽध्यात्ममुच्यते ॥
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् कहतेभये-अक्षर अर्थात् समष्टिरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा परमअक्षर अर्थात् प्रकृतिसे विनिर्मुक्त आत्मस्वरूप जो हैं यह

---

१ परमकारुणिक विनाही आयास संपूर्ण उपद्रवके निवारण करनेवाले आपकूं मेरा संदेहरूप उपद्रव निवारण करनेमें क्या आयास है यह सूचन करताहुवा अर्जुन, हे मधुसूदन ! ऐसा संबोधन कहताभया.

प्रकारका आत्मा ब्रह्मशब्दार्थ है और स्वभाव जो प्रकृति अर्थात् आत्माकेविषें वर्त्तमान भूत-सूक्ष्म-आदिसकल अनात्मवस्तु यह अध्यात्मशब्दार्थ है. और मनुष्यआदिरूपजन्मको करनेंवाला स्त्रीसंबंधसे होनेंवाला जो विसर्ग अर्थात् सृष्टि सो कर्मशब्दका अर्थ है यह सब शब्दार्थ इनपूर्वोक्त तीनोंहीको प्राप्तहोनेकेलिये तथा त्यागकरनेंकेलिये जाननेयोग्य है क्यों कि इनके विचारमें किसीसमयमें उद्वेग करानेवाले होनेंसे निवारण करनेकेलिये मुमुक्षूको ज्ञातव्य है॥३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यार्थियोंको जाननेंयोग्य क्षरभाव है अर्थात् आकाशादिकभूतोंका परिणामविशेष क्षीणस्वभाव होनेंवाला शब्दस्पर्शादिक है. और अधिदैवत शब्दकरके निर्दिष्टअर्थ पुरुष है सो इंद्र प्रजापति आदिदेवतोंकेभी ऊपर वर्त्तमान इनइंद्रादिकोंके भोग्यपदार्थोंसे विलक्षणशब्दादिपदार्थोंका भोक्ता है और अधियज्ञपदार्थ मैं हूं अर्थात् सबयज्ञका आराध्यदेवता मैं हूं तात्पर्य यह है कि मेरा शरीररूप इंद्रादिकोंकेविषें आत्मारूपकरके स्थितहुआ मैंही यज्ञोंकरके आराधनीय हूं ऐसा अनुसंधान महायज्ञ आदि नित्यनैमित्तिक अनुष्ठानसमयमें पूर्वोक्ततीनोंही अधिकारियोंको करना योग्य है ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥

---

१ मरणकालमें अंतर्यामिरूप परमेश्वर मेरा स्मरण करताहुवा अर्चिरादिमार्गसे अर्थात् उत्तरायणमार्गसे मेरे रूपको प्राप्तहोताहै इसमें संशय नहींहै ऐसा अर्थ श्रीधरजी कहतेहै.

अंतकालमें मेराही स्मरण करतेहुए शरीरको त्यागके जो जी-
व जाताहै सो मेरे भावको प्राप्त होताहै अर्थात् जिसप्रकारसे मेरा अ-
नुसंधान करेहै वैसेही आकारवाला होजाताहै जैसे आदिभरत प्रभृ-
तियोंको अंतमें मृगके स्मरणसे मृगशरीर प्राप्तभया ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ॥
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

इसहीको स्पष्ट करतेहै-अंतकालमें यह जीव जिस २ भाव अर्थात्
वस्तुको स्मरण करताहुआ शरीरको त्यागताहै उसही भावको म-
रणसेपीछे प्राप्त होताहै. तात्पर्य यह है कि, अंतकालका स्मरण पूर्वअ-
भ्यस्तकियेकाही होताहै इसवास्ते ज्ञानीने सदा परमपुरुषकी भा-
वना रखनी ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

सोही कहतेहै-जो कि पूर्वअभ्यस्त कियेहुएकाही अंतकालमें स्म-
रण होताहै हे अर्जुन ! इसवास्ते संपूर्णकालमें मरणपर्यंत नित्यमे-
स्मरण कर इसप्रकारकी स्मृतिका कारण श्रुतिस्मृतिविहित युद्ध
आदिरूप कर्मभी कर इसउपायकरके मेरेविषैं बुद्धिको अर्प-
करनेवाला तूं अंतकालमें मेरेहीको स्मरण करताहुआ वांछितस्वरू-
प मेरेको प्राप्त होजावेगा इसमें संदेह नहींहै ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

हे अर्जुन! अभ्यासकरके और योगकरके युक्त होनेंसे अन्यत्र संच-
ररहित जो चित्त तिसकरके अंतमें दिव्य परमपुरुषस्वरूपका जो

चितवन करताहुआ जीव मेरेकोही प्राप्त होजाताहै अभ्यास अर्थात् नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानसमयमेंभी मनकरके उपास्यवस्तुका विचार करना योग अर्थात् नित्यप्रतियोगकालमें यथोक्तरूप उपासना ॥८॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनु-
स्मरेद्यः ॥ सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादि-
त्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥
प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो यो-
गबलेन चैव ॥ भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य स-
म्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

कवि सर्वज्ञ, पुरातन सर्वविश्वका नियामक, शिक्षक जीवसेभी अतिसूक्ष्म संपूर्णको रचनेंवाला अनुपमेय अप्राकृत असाधारणदिव्यरूपवाला ऐसे दिव्यपुरुषको दिन २ प्रति अभ्यस्यमान भक्तियोगके बलकरके परिपक्व संस्कारवाला होनेंसे अचलहुए मनकरके अंतसमयमें भ्रुकुटियोंके मध्यमें प्राणोंको स्थितकरके तहां भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जो अनुस्मरण करैहै अर्थात् निरंतर स्मरण करैहै सो उसही परमपुरुषको प्राप्त होजाताहै अर्थात् परमपुरुषके समान ऐश्वर्यवाला होजाताहै ॥ ९ ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो
वीतरागाः ॥ यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

अब कैवल्यमोक्षार्थियोंकी स्मरणकी रीति कहतेहैं-वेदको जानेंवाले जिसको अस्थूलत्व आदि गुणयुक्त अक्षर कहतेहैं और रागरहित संन्यासी जिसअक्षरमें प्रविष्ट होतेहैं जिसअक्षरस्वरूपकी

प्राप्तिकी इच्छावाले जन ब्रह्मचर्यधर्मका आचरण करतेहैं तिस स-
स्तवेदान्तवेद्य मेरे स्वरूपभूत अक्षरकी जिसरीतिसे उपासना क-
नी सो रीति संक्षेपसे तुझको कहूंगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ॥
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३

श्रोत्र आदि सबइंद्रियनकों विषयोंमांहसे निवर्त्तकरके, अर्थ
रोकके हृदयकमलमें प्रवेशहुए अक्षरस्वरूप मेरेविषैं लगाके यो
धारणाको समास्थितहुआ, जो योगी ॐ ऐसे एकाक्षरको ब्रह्म अ
त् मेरे वाचकको कहताहुआ मेरेको स्मरण करताहुआ अपनें
णोंको मस्तकमें चढायके देहको त्यागके जाताहै वह परम उ
गतिको प्राप्त होताहै अर्थात् प्रकृतिसे वियुक्त मेरेसमान आकार
ला पुनरावृत्तिसे रहित ऐसे आत्माको प्राप्तहोजाताहै ॥ १२ ॥ १

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ॥
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४

अब ज्ञानीको भगवान्की उपासनाका प्रकार और भगव
प्राप्तिके प्रकारको कहतेहैं-हे अर्जुन ! जो योगी अन्य किसी
चित्तको नहींलगाये एकाग्रचित्तवाला होके निरंतर मेरा स
करताहै नित्ययोगकी इच्छा करनेवाले तिसयोगीको मैं सुल

---

१ "यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति । अव्यक्तोऽक्षर इत्यु
माहुः परमां गतिम्" यह प्रमाणसे जो संपूर्णभूतोंका नाश हुयेपरभी
नहींपाताहै सोही परमगति आचार्योंने कहाहै.

श्री राम जैन ...

अर्थात् मैंही प्राप्तहोजाताहूं मेरा ऐश्वर्य आदिक उसको शुभफल नहीं ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ॥
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

यहांसे लेके अध्यायकी समाप्तिपर्यंत कैवल्यकी इच्छावाले ज्ञानीकी मुक्ति और ऐश्वर्य चाहनेंवालेकी पुनरावृत्तिको कहतेहैं-मुझको प्राप्तहुए जन फिर दुःखका स्थान, अस्थिर, ऐसे जन्मको नहीं प्राप्तहोतेहैं क्यों कि वे महात्मा यथावस्थित मत्स्वरूपका ज्ञान होनेंसे मेरेविषैं, आसक्तमनवालेहुए मेरे आश्रय हुए मेरी उपासना करके परमसिद्धिरूप मुझकोही प्राप्त होजातेहैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ॥
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यंत ब्रह्माके उदरवर्त्ती संपूर्णलोक भोगऐश्वर्यके स्थान जो है सो संपूर्ण विनाशी है अर्थात् उनमें गयेहुए जन फिर जन्म लेलेतेहै और सर्वज्ञ सत्यसंकल्प इत्यादि[१] गुणवाले जिस मुझको प्राप्तहोके यह ज्ञानी फिर जन्म नहींलेताहै ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ॥
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

ब्रह्मलोकपर्यंत संपूर्ण ब्रह्मांडके लोकोंके परमपुरुषके संकल्पसे कियेहुयोंके उत्पत्ति, विनाशकालको व्यवस्थाको कहतेहैं-हजार चतुर्युगोंपर्यंत ब्रह्माका जो दिन होताहै और हजार चतुर्युगोंपर्यं-

---

१ निखिल जगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलत्व परमकारुणिकत्व ये गुणभी आदिशब्दसे जानने.

त जो ब्रह्माकी रात्रि होतीहै उसको जानतेहैं वे मनुष्य आदि ब्रह्मा-
पर्यंतोंके अहोरात्रको जानतेहैं अर्थात् सबकी अवस्थाको देखनेंवा
ले दीर्घदर्शी है ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ॥
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

तहां ब्रह्माके दिनके आगमन समयमें ब्रह्माकी अव्यक्ताख्य
देहसे संपूर्ण देव मनुष्य, आदि व्यक्ति स्वरूप उत्पन्न होतेहैं और ब्रह्
की रात्रिमें, तिसही अव्यक्तावस्थापन्न ब्रह्माके शरीरमांहि लीन
जातेहैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ॥
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे अर्जुन! सोही यह भूतग्राम अर्थात् प्राणिगण ब्रह्माके दि
में उत्पन्नहोके रात्रिके आगमनमें नष्ट होजाताहै फिर दिन
आगमनमें उत्पन्न होजाताहै ॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २०

अब यह कहतेहैं कि कैवल्य, मोक्षको प्राप्तहुयोंकी पुनराव
नहींहै-तिसब्रह्माके जडप्रकृतिरूप देहसे, परे जो किसीप्रक
प्रकट नहींहोवे ऐसा अव्यक्त सनातन जो चेतनस्वरूप आत्मा
संपूर्ण आकाश आदि भूतोंके नष्ट होतेहुएभी नष्ट नहींहोताहै ॥ २

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ॥
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

सो वह अव्यक्त अक्षर, ऐसा प्रसिद्ध कहाताहै-वेदको जान

ले विद्वान् उसीको परमगति कहतेहैं अर्थात् प्रकृतिस्वरूपसे वियुक्तस्वरूपसे अवस्थित जो आत्मा सो कहतेहैं जिसको प्राप्त हो-के पुनरावृत्ति, फिरजन्म नहींहोताहै सो वही मेरा परम नियमित स्थान है ॥ २१ ॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ॥
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

ज्ञानीका प्राप्य तो इसपूर्वोक्त अधिकारीके प्राप्यसे अत्यंत वि-लक्षण है यह कहतेहैं-हे अर्जुन! संपूर्णभूत जिसकेबीचमें स्थित है और जिस परमपुरुषकरिके यहसंपूर्ण जगत् विस्तृत है वह परम परमात्मा अनन्य एकाग्रभक्तिकरके प्राप्तहोताहै ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ॥
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जिसकालमें प्राण त्यागनेंवाले योगीजन तो पुनरावृ-त्तिको नहींप्राप्तहोतेहैं और पुण्यकर्मवाले जन जिसकालमें आ-वृत्ति अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्तहोतेहैं तिसकालको अर्थात् मार्ग-को कहैंगे ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ॥
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः २४ ॥

अग्निकालका अभिमानी देवता ज्योतिकालका अभिमानी दे-वता दिनका अभिमानी तथा शुक्लपक्षका अभिमानी देवता छह म-हीने उत्तरायण इनके मार्गमें प्राण त्यागनेंवाले ब्रह्मवेत्ता योगीजन ब्रह्मको प्राप्त होजातेहैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ॥
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

जिसकालमें धूंवा फैल रहाहो रात्रि कृष्णपक्ष छह महीनें दक्षिणायनके यह चांद्रमास काल कहाताहै इसमें शरीर त्यागनेंवाला योगीजन अर्थात् पुण्यकर्मी जन स्वर्ग, पितृलोक आदिकोंको प्राप्त हो तहां सुख भोगके फिर जन्म लेतेहै ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ २६ ॥

यह शुक्ल कृष्ण दो गति जगत्के सनातन ध्रुव कहीहै तहां दो प्रकारके ज्ञानीजनोंमें एक शुक्लगति करके तो योगीजन अनावृत्तिवाले स्थानको प्राप्त होताहै और दूसरी इसकृष्णगति करि इष्टापूर्त्त आदि यज्ञ करनेंवाले योगीजन स्वर्ग आदि आवृत्तिवा स्थानको प्राप्तहोतेहै ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थजानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

हे अर्जुन ! इन दोनोंमार्गोंको जाननेंवाला कोईभी योगीज मरणसमयमेंभी मोहको नहींप्राप्तहोताहै इसलिये तुम सबका में दिन २ प्रति अग्नि ज्योति आदि गतिके निरंतर चिंतना योगको करनेंमें उद्यत होवो ॥ २७ ॥

---

१ मोक्षतथासंसारइनके प्रापकमार्गोंको जानताहुवा कोईक योगी सुख छिकरके स्वर्ग आदि फलकी इच्छा नहींकरताहै किंतु परमेश्वरनिष्ठही हो इति श्रीधरः ।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं
प्रदिष्टम् ॥ अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-
ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥

अब इन दोनों अध्यायोंमें कहेहुए शास्त्रार्थके जाननेंका फल कहतेहैं- साम आदि वेद यज्ञ तपस्या दान इनमें जो पुण्य कहाहै वह संपूर्णफल इनदोनों अध्यायोंमें कहाहुआ भगवत्महात्मके जाननेंसे होताहै और योगी अर्थात् ज्ञानी होके परम आद्यस्थानको प्राप्तहोजाताहै ॥ २८ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-
वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥

अथ नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ॥
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् कहतेहैं-उपासकोंके परस्पर भेद निमित्तसे जो विशेष है सो तो कहदिये अब उपास्य परमपुरुषके महात्म्यको और ज्ञानियों-

के विशेषको निर्णयकरके भक्तिरूप उपासनाके स्वरूपको कहतेहैं-यह विज्ञानसहित अर्थात् उपासना और गतिविशेषका ज्ञान इनकरके सहित भक्तिरूप उपासना नामक ज्ञान, गुणोंमें दोषारोपणकरके रहितहुए तेरेवास्ते कहतेहैं इस मद्विषयक ज्ञानको अनुष्ठानपर्यंत जानके तुम मेरीप्राप्तिके विरोधी संपूर्ण अशुभोंसे छुटजाओगे ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ॥
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान विद्याओंका राजा और गुह्योंका राजा है अथवा राजाओंकी विद्या है और राजाओंसे गुप्त करनेयोग्य है क्यों कि राजाही विस्तीर्ण अगाधमनवाले होतेहैं महामनवालोंकीही यह विद्या है और महामनवालेही गोपनीयवस्तुको गुप्त रखतेहैं. यह उत्तम पवित्र है प्रत्यक्ष विषयवाला है अर्थात् भक्तिरूपकरके उपासितहुआ मैं उपासना करनेवालोंको प्रत्यक्ष होताहूं और यह उपासनारूप ज्ञान धर्मसे युक्त है करनेवालेको सुंदर सुखपूर्वक ग्राह्य है अव्यय अर्थात् मेरी प्राप्तिको साधिकेभी आप क्षीण अनुष्ठान करनेकी योग्यदशाको नहींहोताहै ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ॥
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

हे परंतप ! इस उपासनारूप धर्मको प्राप्तहोकेभी विश्वासपूर्वक श्रद्धारहितहुए जन मुझको प्राप्त नहींहोके मृत्युरूप संसारमार्गमें निरंतर वर्त्ततेहैं ॥ ३ ॥

---

१ परमात्तिःश्रेयसस्वरूप मेरेप्राप्तिका साधन धर्मः

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

यह चेतन अचेतनात्मक संपूर्णजगत् अप्रकटस्वरूपवाले मुझ अंतर्यामीकरके व्याप्त होरहाहै संपूर्णभूत प्राणिगण मेरेविषें स्थित हैं अर्थात् मेरे स्वाधीन हैं और मैं तिनके स्वाधीन नहींहूं मेरी-स्थितिमें तिनकरके कछु उपकार नहींहै ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

और संपूर्णभूत जैसे कलशमें जल भराहो तैसेभी मेरेविषें नहींहै किंतु मेरे संकल्पसे स्थित हैं मेरे ऐश्वर्ययोगको देख अर्थात् मेरे ईश्वरपनेको देख भूतोंका पोषण करनेवाला मेरा आत्मा भूतोंमें स्थित है और मेरा आत्माही भूतभावन है अर्थात् मेरा मनोमय संकल्पही भूतोंको धारणकरनेवाला और नियंता है तात्पर्य यह है कि ऐसा विचित्रसंकल्प मेराही है अन्यका नहींहै ॥ ५ ॥

यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ॥
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

इससंपूर्ण विश्वका अपने संकल्पके आधीनप्रवृत्ति है इसमें दृष्टांत कहतेहैं-जैसे आकाशमें निराश्रय स्थितहुआ महान्वायु सबजगह गमन करताहै वह निराश्रय वायु मेरे आधीन स्थितिवाला है और मैंनेंही धारणकर रक्खाहै ऐसेही संपूर्णभूत मेरेविषें स्थितहैं मैंनेही धारणकररक्खेहैं ऐसा निश्चय करो ॥ ६ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि इस जगत्का धारण तथा नियमनकेलिये शेषिभाव (स्वामिभाव) से मेरेसे चेतन अचेतन सबवस्तुजात व्याप्तहै.

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ॥
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे कौंतेय ! स्थावर जंगमादिक संपूर्णभूत कल्पके अंतमें तमोगुणशब्दसे वाच्य नाम रूपके विभागसे रहित ऐसी मेरी प्रकृतिको प्राप्त होजातेहैं; अर्थात् सब प्रलयको प्राप्त होजातेहैं, और कल्पकी आदिमें, उत्पत्तिकालमें तिन सबभूतोंको मैं फिर रचताहूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ॥
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

मैं अपनी विचित्र परिणामवाली प्रकृतिका आठ प्रकारका परिणाम कर देव, पशु, मनुष्य, स्थावर इत्यादिक चारप्रकारके इस भूतग्रामको, अपनी मोहिनी गुणमयी प्रकृतिके संबंधसे परवशहुवेको कालकालमें रचताहूं ॥ ८ ॥

नच मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! वे विषम सृष्टि आदि कर्म मुझको नहींबांधतेहैं अर्थात् मेरे निर्दयी आदि दोष नहीं करतेहै क्यों कि क्षेत्रज्ञजीवोंके पूर्व कियेहुए कर्महीं देव आदि विषमभावके हेतुहैं, मैं तो उदासीनकीतरह स्थितहुआ तिनकर्मोंमे आसक्त नहींहूं ॥ ९ ॥

मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ॥
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

तिससे क्षेत्रज्ञोंके कर्मोंके अनुसार, सत्यसंकल्पवाले मैनें अध्यक्षने,स्वामीनें जब यह अपनी प्रकृति प्रेरीजातीहै तब संपूर्ण चराचर जगत्को उत्पन्न करतीहै, हे कौंतेय ! क्षेत्रज्ञोंके कर्मानुगुण में

इस देखनेंरूप हेतुकरके यह जगत् अनेकप्रकारसे उत्पन्न होता- है मेरे संकल्पकी सत्यता होनेंसे सृष्टिको कर्मानुगुण होनेंसे मेरे- विषैं निर्दय आदि दोष नहींहै वसुदेवपुत्रभी मैं निरंकुश ऐश्वर्य- वालाहूं ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ॥
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मेरे कारुण्य आदि परमभावको नहींजानतेहुए मूढजन भूतों- का महेश्वर सर्वज्ञ सत्यसंकल्प संपूर्णजगत्का एककारण इत्यादि गुणोंवाले परमकारुणिकतासे सबकों आश्रय देनेंकेलिये मनुष्यश- रीरको प्राप्तहुएको मुझको, प्राकृतमनुष्यके समान मानके तिरस्का- र करतेहै केवल दयाके वश होके मनुष्यशरीर धारण कियाहै ऐसा नहींमानतेहै ॥ ११ ॥

मोघाशामोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ॥
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

मुझको मनुष्य मानना ऐसी, मेरे करुणा आदि गुणोंको आच्छादन करनेवाली मेरी राक्षसी आसुरी मोहिनी प्रकृतिके आश्रयहुए वे ज- न निष्फलआशावाले निष्फलआरंभवाले और संपूर्ण मेरे चराच- र अर्थोंमें विपरीतज्ञानताकरके निष्फलज्ञानवाले सबजगह या- थात्म्यज्ञान करके रहितहैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ॥
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि संपूर्णोंका ईश्वर मेरेको जो पुरुष प्राकृत मनुष्यतुल्य मानकर मेरेविषैं जो कार्य्य करनेकी इच्छा करतेहैं अर्थात् जिस उद्देशकरके आरंभ करतेहैं वह उनपुरुषोंके निष्फल होताहै.

हे अर्जुन! अपने कियेहुए पुण्योंकरके मुझको प्राप्तहो संपूर्ण पापरहित हुए महात्मा तो मेरी दैवीप्रकृतिको प्राप्तहुए, परम-कारुणिकतासे साधुओंकी रक्षाकेवास्ते मनुष्यत्वकरके अवतार लियेहुए मुझको जानके अनन्यमनवाले होके भजतेहैं ॥ १३ ॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ॥
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

मेरेहीको प्रिय मानके निरंतर मेरा कीर्तन करतेहुए और मेरे पूजन आदि कर्मोंमें दृढसंकल्पवाले होके यत्न करतेहुए भक्तिकरके मेरेको नमस्कार करतेहुए नित्ययोगकी इच्छा करतेहुए महात्माजन मेरी उपासना करतेहैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ॥
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

अन्यभी महात्माजन पूर्वोक्त कीर्तन आदि ज्ञानयज्ञ करके यजन करतेहुए मेरी उपासना करतेहैं सो ऐसे कि अनेकप्रकार जगत्-रूपकरके विश्वमूर्ति होके स्थितहुआ जो मैं तिसमुझको एकत्व करके उपासना करतेहैं अर्थात् भगवान् वासुदेव परब्रह्मही सूक्ष्म-रूपवाले चेतन अचेतन वस्तुके शरीरी होके अपने संकल्पके बलसे स्थूल चेतनाचेतनके शरीरी होके अनेकरूपताकरके विद्यमान है ऐसा जानतेहुए उपासना करतेहैं ॥ १५ ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ॥
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

तैसाही विश्वशरीरवाला मैंही अवस्थित हूं यह कहतेहैं-मैं ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ हूं महायज्ञभी मैं हूं पितृगणोंको पुष्टिदायिनी

स्वधा हूं औषध अर्थात् हविस्साकल्य मैं हूं मैं मंत्र हूं मैं घृत हूं और आहवनीय आदिक अग्नि मैं हूं होमभी मैं हूं ॥ १६ ॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

इस स्थावर जंगमात्मक जगत्का पिता हूं मैंही माता हूं धारण करनेंवाला हूं अर्थात् ब्रह्मारूपकरके वर्त्तमान हूं पितामह हूं जो कुछ वेदकरके वेद्य अर्थात् जानना योग्य है पवित्र है सो मैं हूं ॐ कार मैं हूं ऋक् साम यजु इन वेदस्वरूपभी मैं हूं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

मैंही इसविश्वकी गति अर्थात् प्राप्यस्थान हूं धारण करनेंवाला भर्त्ता हूं प्रभु अर्थात् समर्थ हूं साक्षात् द्रष्टा हूं निवासस्थान हूं मैंही इसजगत्का शरण, रक्षक हूं सुहृद अर्थात् हितैषी हूं उत्पत्ति और प्रलयका स्थान हूं निधान अर्थात् उत्पादन करनेंके योग्य और उपसंहार करनेंके योग्य मैंही हूं नाशरहित कारण हूं॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥

मैंही सूर्य आदि रूपकरके तपताहूं और ग्रीष्मऋतुमें वर्षाका निग्रह करताहूं वर्षाकालमें वर्षताहूं जिससे संसार जीवताहै जिससे मरताहै ऐसा अमृत तथा मृत्युस्वरूप मैं हूं हे अर्जुन! सत् असत् अर्थात् वर्त्तमान भूत भविष्यत्रूप मैंही हूं ॥ १९ ॥

---

१ तात्पर्य यह है कि संपूर्ण अवस्थामें अवस्थित चेतन अचेतनात्मक वस्तु मेराही शरीर है अर्थात् चेतन अचेतन करके विशिष्ट मैंही अवस्थित हूं.

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते॥ ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥

ऐसे एक भगवान्काही अनुभवरूप भोगवाले महात्मा ज्ञानीजनोंका वृत्त कहा अब तिनको विशेष दिखानेंकेवास्ते, कामनावाले अज्ञजनोंके वृत्तको कहतेहैं-ऋक् यजु साम इनवेदोंमें निष्ठा रखनेंवाले, इनसे प्रतिपाद्य यज्ञोंकरके इंद्रादिरूप मेरा यजन कर यज्ञका अवशिष्ट सोमपान कर पापरहितहुए स्वर्गलोककी प्रार्थना करतेहैं फिर तहां उत्तमस्वर्गलोकको प्राप्त हो तहां उत्तमदेवतोंके भोगोंको भोगतेहैं ॥ २० ॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति॥ एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥ ॥

सो वे तिसविशाल स्वर्गलोकको भोगके पुण्य क्षीण होनेंपर मृत्युलोकमें प्राप्तहोजातेहैं ऐसे वेदत्रयीके सकामधर्मको प्राप्तहुए कामनाकी इच्छावाले जन गतागत अर्थात् अल्पस्थितिवाले स्वर्गआदि लोकोंको प्राप्तहोके फिर जन्म लेतेहैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

और अन्यप्रयोजनसे रहित हुए जो मनुष्य[१] मेरा चितवन करते

---

१ मेरे चिंतन नाम स्मरणविना आत्माका धारण जो नहीं करसके अर्थात् मेरा एक स्मरणही है प्रयोजन जिनके तिनहीको मैं योगक्षेम करता

ए मेरीही उपासना करतेहै तिनके मेरेविषें नित्य अभियोगकी इच्छावालेंके मैं मेरी प्राप्तिरूप योग और अपुनरावृत्तिरूप क्षेम करताहूं ॥ २२ ॥

येप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ॥
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

हे अर्जुन! जो अन्यदेवतोंके भक्तहै इंद्र आदि देवतोंको श्रद्धाकरके पूजतेहै वेभी मदात्मक होनेंसे इंद्र आदि शब्दोंको मेरेही वाचक होनेंसे मेराही पूजन करतेहै परंतु अविधिपूर्वक करतेहै क्यों कि मेरे स्वरूपको नहींजानतेहै ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ॥
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

मैंही सब यज्ञोंका भोक्ता हूं और मैंही सबका स्वामी हूं तहां २ फल देनेवाला हूं ऐसे तत्वकरके मुझको नहींजानतेहै इसकारणसे वे जन्ममरणको प्राप्तहोतेहै ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ॥
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

अहो! आश्चर्य है कि एकही कर्ममें संकल्पमात्रके भेदकरके कोई अल्पफलभागी स्वर्गादिकको प्राप्तहोतेहै कोई मुक्त होतेहै यह शंका- होवे तहां कहतेहै-जो इंद्र आदि देवतोंके संकल्पसे देवतोंका आराधन करतेहै वे इंद्र आदि देवतोंकोही प्राप्तहोतेहै अर्थात् उनकेही लोकमें प्राप्तहोतेहै पितरोंके भक्त पितृलोकमें प्राप्तहोतेहै भूत- राक्षस आदिकोंके भक्त भूत राक्षस आदिकोंके लोकमें प्राप्तहोतेहैं और मेरा यजन करनेंवाले मुझको प्राप्तहोतेहै ॥ २५ ॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ॥
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

मेरा यजन करनेंवालोंका यहभी विशेष है यह कहतेहैं-जो पुरुष भक्तिकरके मेरे अर्थ पत्र, पुष्प, फल, जल, अर्पण करताहै शुद्धमनवाले तिसके भक्तिसे दियेहुए उसपत्रपुष्प आदिको सर्वेश्वर सत्यसंकलपआदिगुणोंवाला मैं प्रसन्न होके, ग्रहणकरताहूं ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ॥
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥

तुमभी ज्ञानी होके उक्तलक्षणवाली भक्तिमें तत्पर रहो यह कहतेहैं-हे अर्जुन! तुम जो करतेहो जो खातेहो जो होम करतेहो जो दान करतेहो जो जप करतेहो सो सब मेरे अर्पण करो अर्थात् सब लौकिक वैदिक कर्मोंका कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि सब जैसे मेरे विषे समर्पित हो सो करो सबकी स्थिति मेरे संलपके आधीन जानो॥२७॥

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

ऐसे संन्यास नामक योगयुक्त मनवाला हुआ आत्माको मच्छेषता मन्नियामकता आदि अनुसंधानकरताहुआ शुभाशुभ कर्मबंधनोंसे छूटजावेगा तिनकरके निर्मुक्तहुआ मुझको प्राप्तहोवेगा ॥ २८ ॥

---

२ तात्पर्य यह है कि "भक्त्या प्रयच्छति" ऐसा कहके फिर 'भक्त्युपहृत' ऐसा कहतेहुवे भगवान् यह सूचन करतेहैं कि भक्तिशून्य पुरुषका ब्राह्मणपन तपकरना आदि मेरे संतोषका कारण नहींहै किंतु श्रीदामब्राह्मण तथा विदुर आदिकी नाईं प्रीतिही संतोषका कारण है.

समोहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ॥
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

मैं[1] सब भूतोंपर समान हूं मेरा कोई द्वेष्य अप्रिय नहीं है कोई प्रिय नहीं है किंतु मैं सबभूतोंमें समानहूं मुझको जो भक्तिकरके भजते है उत्तमजाति हो अथवा निकृष्टजाति हो परंतु मेरे समान गुणोंकी तरह सुखपूर्वक मेरेविषैं वर्त्तते है और मैं तिनविषैं वर्त्तताहूं ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ॥
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति ॥
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

जो यदि कोई निकृष्टजाति दुराचारी पुरुषभी अन्य किसीदेवताको नहींभजताहुआ केवल मुझकोही भजताहै वह साधु है वैष्णवोंका अग्रणी यही मानना पूर्वोक्तोंकेही समान जानना क्यों कि वह सम्यक्प्रकारसे निश्चय कियेहुए है, मेरे भजनकरके निष्पाप हुआ शीघ्रही धर्मात्मा होजाताहै पुनरावृत्तिरहित मेरे सनातनमोक्षको प्राप्तहोताहै हे कौंतेय! मेरा भक्त कभी नष्ट नहींहोताहै अर्थात् मुक्तही होताहै यह निश्चय जानो ॥ ३० ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! मेरे, आश्रय होके मेरी उपासना[2] करके पापयो-

---

१ देव मनुष्य तिर्य्यक् स्थावर स्वरूपसे अवस्थित.

२ तात्पर्य यह है कि आचार भ्रष्टपुरुषकूं मेरी उपासनारूप भक्ति पवित्र करदेतीहै इसमें कुछभी आश्चर्य नहीं है.

नि जन तथा स्त्री, वैश्य शूद्र येभी परमउत्कृष्ट गतिको प्राप्त-होतेहैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ॥
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

और जो पवित्रयोनिवाले ब्राह्मण राजर्षिलोग मेरी भक्तिके आश्रय होतेहैं उनका तो फिर क्या कहनाहै अर्थात् अवश्यही मोक्षको प्राप्त होतेहैं इसलिये अस्थिर तापत्रयसे अभिहत होनेंसे सुखरहित, ऐसे इसलोकमें वर्त्ततेहुए तुम मुझको भजो ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मान्नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भक्तिके स्वरूपको कहतेहैं--सर्वेश्वर सर्वज्ञ सत्यसंकल्प इत्यादि गुणोंवाले मेरेविषें मनको लगाके मेरा भक्त हो मेराही यजनकर, मुझकोही नमन कर मत्परायण, मेरेही आश्रय हो ऐसे अपने मनको मेरेविषें युक्तकरके दिन दिन प्रति उक्तलक्षणवाली मेरी उपासना करताभया मुझकोही प्राप्तहोगा ॥ ३४ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुधवसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः॥ १०॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः॥
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भक्तियोग संपूर्णप्रकारसे कहा अब तिसभक्तिकी उत्पत्ति और वृद्धिकेवास्ते भगवान्के निरंकुशऐश्वर्य आदि कल्याणगुणगणोंको आनंत्य, और तिस भगवान्केही शरीररूप होनेंसेही तदात्मकत्वकरके संपूर्णजगत्की उत्पत्तिको दिखातेहैं- श्री भगवान् कहतेहै हे महाबाहो! मेरे महात्म्यको सुनके प्रसन्नहोनेंवाले तेरेअर्थ हितकरके फिरभी जो मैं अपनें महात्म्यके विस्तारवाले परमवचनको कहूंगा सो तुम सावधानहोके सुनो ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः॥
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २ ॥

मेरे प्र[1]भावको देवगण महर्षिजन ये अधिकतर ज्ञानवालेभी नहींजानतेहै क्यों कि तिनदेवतोंके और महर्षियोंके सबतर्कसे अर्थात् स्वरूपज्ञानशक्ति आदिका मैंही आद्य हूं इसहेतुसे वे मेरे स्वरूप आदिकको यथावत् नहींजानतेहै ॥ २ ॥

[2]यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्॥
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

---

१ नाम कर्म्म स्वरूप स्वभाव आदि प्रभावको.

२ भक्तिकी उत्पत्तिका विरोधीभूत जो पाप तिसका छुटानेका उपाय देवाद्यचिन्त्य अपना माहात्म्य बिषयक ज्ञान है वही इसश्लोकसे सूचन करतेहै.

जो पुरुष मुझको अजन्मा अनादि लोकोंका महेश्वर ऐसा जानताहैं मनुष्योंमें असंमूढ हुआ अर्थात् मोह रहितहुआ वह मेरी भक्तिकी उत्पत्तिके विरोधी संपूर्ण पापोंसे छुटजाताहै ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ॥
सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ॥
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥

अब भक्तिकी वृद्धिके प्रकारको कहतेहैं-बुद्धि ज्ञान अर्थात् चित् अचित् वस्तुविशेषका निश्चय, असंमोह[1] क्षमा[2], सत्य, दम, शम अर्थात् अंतःकरणका नियमन, सुख दुःख, उत्पत्ति नाश, भय अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश, अयश ये सब अलग २ भाव सबभूतोंकै मेरे संकल्पकेही अधीन होतेहै ॥ ४॥५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ॥
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

संपूर्ण भूतमात्रोंकी सृष्टिस्थितिके प्रवर्त्तक ब्रह्मादिकभी मेरे संकल्पके आधीन प्रवृत्तिवालेहै यह कहते है--पहले, सात महर्षिअर्थात् अतीतमन्वंतरमें जो भृगु आदि सात महर्षि ब्रह्माके मनसे उत्पन्न भयेहै और सावर्णिक नाम चार प्रसिद्ध मनु, उत्पन्न

---

१ प्रथम गृहीत रजत आदिवस्तुसे विजातीय शुक्ति (सीप) आदि वस्तुमें सजातियत्व बुद्धिकी निवृत्तिही असंमोह पदका अर्थ है.

२ मनके विकारका हेतु बिद्यमान हुयेपरभी जिससे मन विकृत नहीं होवे सो क्षमा है.

भयेहै जिनकी पुत्र पौत्र आदि संतानसे लोकमें यह प्रजा उत्पन्न भईहै वे सब मेरेही संकलपके स्वाधीनहै ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ॥
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

जो पुरुष तत्त्वकरके मेरे संकलपके स्वाधीन इसमेरी विभूतिको जानताहै वह अचल भक्तियोग करिके युक्त होजाताहै इसमें संदेह नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ॥
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

अब ज्ञानका विपाकरूप भक्तिकी वृद्धिरूप विभूतिको दिखातेहै मैं संपूर्ण[1]का उत्पत्तिकारण हूं मुझसे संपूर्णविश्व प्रवृत्तहोताहै ऐसे मानके भावसेयुक्त हुए ज्ञानिजन सर्व कल्याणगुणान्वित मुझको भजतेहै ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ॥
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥

मेरेविषैं चित्त कियेभये मेरेविषैंही प्राणोंवाले अर्थात् मेरेविना आत्मधारणको नहींप्राप्तहोतेहुये मेरेगुणोंको आपसमें उपदेश करतेहुए और मेरे रमणीयकर्मोंको कहतेहुए वे भक्तजन, तुष्ट होतेहै और श्रवणकरके रमण करतेहै ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥

---

१ विचित्र चित् तथा अचित् रूपी प्रपञ्चका.

ऐसे मेरेविषैं निरंतर युक्त होतेहुए प्रीतिपूर्वक मुझको भजते-हुए उनभक्तोंको मैं उसबुद्धियोगको देताहूं कि जिससे वे मुझको प्राप्त होजावे ॥ १० ॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ११ ॥

और तिनकीही दयाकेवास्ते उनके अन्तःकरणमें, मनकी वृत्तिविषैं विषयताकरके स्थितहुआ मैं मद्विषयक ज्ञानरूप दीपक-करिके उनके अज्ञानजनित मद्भिन्नविषयमें प्रीतिरूप तिमिरका नाश करताहूं ॥ ११ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ॥
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ॥
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

ऐसे भगवान्के वाक्य सुन अर्जुन बोला, परमब्रह्म परमधाम परमपवित्र ऐसा जिसको श्रुति कहतीहै और सब ऋषिजन जिसको शाश्वत दिव्यपुरुष कहतेहैं तथा आदिदेव अजन्मा विभु कहतेहैं सो आपही हो, तैसेही देव, ऋषि, नारद, असित, देवल, वेदव्यास येभी "एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुराम् पुरीम्" इत्यादिकवचनोंकरके कहतेहैं और आपभी मेरेसे कहतेहो ॥ १२ ॥ १३ ॥

---

१ प्रीतिपूर्वक विपाकदशापन्न.

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ॥
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥

इसलिये हे केशव! जो आप मुझसे कहतेहो उस संपूर्णको मैं सत्य मनताहूं हे भगवन्! आपकी उत्पत्तिको न देवता जानतेहैं न दानव जानतेहैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ॥
भूतभावनभूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

हे पुरुषोत्तम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देवदेव! हे जगत्पते! आप आपको अपनेंही ज्ञानकरके आपही जानतेहो ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

इसलिये तुह्मारी जो दिव्य असाधारण विभूति हैं जिन विभूतियोंकरके आप इनलोकोंको नियंतृत्वकरके व्याप्तहोके स्थित होरहेहो तिन संपूर्णविभूतियोंको कहनेयोग्यहो ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ॥
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

भक्तियोगमें निष्ठहुआ सदा तुमका चितवन करताहुआ मैं चिन्तनीय परिपूर्ण ऐश्वर्य आदि कल्याणगुणगणवाले आपको कैसे जानूं हे भगवन्! आप मैने किस २ भावोंमें चितवन करनेंयोग्यहो ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ॥
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

---

१ परिमितज्ञानवाले.

हे जनार्दन ! आप अपनें योग्यको और विभूतिको विस्तारसे फिर कहो तुम्हारे महात्म्यरूपी अमृतको सुनतेहुएकी मेरी तृप्ति नहींहोतीहै ॥ १८ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ॥
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीभगवान् कहतेहैं-हे अर्जुन ! अपनी कल्याणरूपवाली विभूति-योंको प्राधान्यतासे तुमसे कहैंगे क्यों कि मेरे विस्तारका अंत नहींहै ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ॥
अहमादिश्च मध्यश्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

हे अर्जुन ! मैं सब[2]भूतोंके हृदयमें स्थित होनेंवाला आत्मा हूं अर्थात् शरीरका सर्वात्माकरके आधार हूं नियन्ता हूं ऐसे सबभूतोंकी आत्मताकरके स्थितहुआ मैं तिनभूतोंकी आदि और मध्य, तथा अंत हूं अर्थात् तिनकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका हेतु हूं ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ॥
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

जो बारह सूर्य हैं उनमें जो उत्कृष्ट विष्णुनामक सूर्य है सो मैं हूं जगत्को प्रकाश करनेंवाले ज्योतिगणोंमें किरणोंवाला सूर्य और उनचास मरुतोंमें मरीचि नामक मरुत् हूं नक्षत्रोंमें चंद्रमा मैं हूं॥२१॥

---

१ अर्थात् मेरी अतृप्ति आपको विदितहै.

२ अपने शरीरभूत भूतोंके.

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

ऋक्, यजु, साम इन वेदोंमें जो उत्तम सामवेद है सो मैं हूं देवतों-में इंद्र हूं इंद्रियोंमें जो उत्कृष्ट मन है सो मैं हूं और भूतोंमें जो चेतना हैं सो मैं हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ॥
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥

ग्यारह रुद्रोंमें शंकर मैं हूं यक्ष, राक्षस इन्होंमें कुबेर हूं वसुओंमें पावक हूं, अर्थात् अग्नि हूं शिखरशोभित पर्वतोंके मध्यमें सुमेरु-पर्वत हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ॥
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

और हे पार्थ ! पुरोहितोंमें मुझको मुख्य बृहस्पति जानों सेनाप-तियोंके मध्यमें मैं स्वामी कार्तिक हूं सरोंवरोंमें मैं समुद्र हूं ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ॥
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥

मेरीचि आदि ऋषियोंमें मैं भृगु हूं "गिराम्" अर्थात् अर्थवाचक-शब्दोंमें मैं ॐ कार हूं यज्ञों के मध्यमें उत्तम जपयज्ञ हूं पर्वतमात्रोंमें हिमालयपर्वत हूं ॥ २५ ॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ॥
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥

संपूर्णवृक्षोंके मध्यमें पीपलवृक्ष[1] हूं देवर्षियोंमें नारद हूं गंधर्वोंके मध्यमें चित्ररथगंधर्व हूं सिद्धोंके मध्यमें कपिलमुनि हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ॥
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥

अश्वोंके मध्यमें जो उच्चैःश्रवा अश्व अमृतकेवास्ते समुद्रमथनमें उत्पन्न भया है सो मैं हूं यह जान हाथियनमें ऐरावत हस्ती हूं नरोंमें राजा हूं ॥ २७ ॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ॥
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

आयुधोंमें वज्र हूं धेनुओंमें कामधेनु[2] मैं हूं उत्पत्तिकारक कामदेव हूं एकमस्तकवाले सर्पोंमें वासुकि हूं ॥ २८ ॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥

अनेकमस्तकवाले नागसंज्ञकसर्पोंमें शेषनाग हूं जलोंके देवताओंका राजा वरुण हूं पितरोंमें अर्यमा नामक पितरोंका राजा शासन करनेंवालोंमें यम हूं ॥ २९ ॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ॥
मृगाणां च मृगेन्द्रोहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥

दैत्योंमें प्रह्लाद हूं अनर्थकरनेंकी इच्छासे गिनतीकरनेंवालोंमें मृत्यु हूं मृगोंमें मृगेन्द्र, सिंह हूं पक्षियोंमें गरुड हूं ॥ ३० ॥

---

१ पूजनीय. २ दिव्यसुरभिः.

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ॥
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥

गमनस्वभाववालोंमें पवन हूं शस्त्र धारणकरनेंवालोंमें मैं राम हूं यह शस्त्रधारण नाम विभूति है मच्छोमें मगरमच्छ हूं प्रवाहवालोंमें गंगाजी हूं ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ॥
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

जो सर्ग अर्थात् रचेजातेहै ऐसे पृथ्वी आदिकोंमें आदि, अंत, मध्य मैंही हूं अर्थात् कारण हूं हे अर्जुन! सबविद्याओंमें अध्यात्म विद्या हूं वादकरनेंवालोंमें वाद हूं अर्थात् जो सिद्धांतवाद है सो मैं हूं ॥ ३२ ॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ॥
अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

अक्षरोंमें सबवर्णोंकी प्रकृति अकार हूं सामवायिकसमाससमूहमें द्वंद्वसमास हूं अक्षयकाल मैं हूं सबका स्रष्टा हिरण्यगर्भ चतुर्मुख मैं हूं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ॥
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबके प्राणोंको हरनेवाला मृत्यु मैं हूं उत्पन्नहोनेंवालोंमें उद्भवनामक कर्म हूं कीर्ति मैं हूं स्त्रीजनोंमें श्री अर्थात् लक्ष्मी हूं और वाणी हूं स्मृति हूं मेधा हूं धृति अर्थात् धारणा हूं और क्षमा हूं ॥३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ॥

मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

सामवेदके मंत्रोंमें बृहत्साम हूं छंदोंमें गायत्रीछंद हूं महीने मार्गशीर्ष मास हूं, ऋतुओंमें वसंतऋतु हूं ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥

जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६

छलकरनेवालोंमें द्यूत, जूवा हूं तेजवालोंमें तेज मैं हूं जीत वालोंमें जय हूं निश्चय करनेवालोंमें निश्चयस्वरूप हूं उदारचित्त लोंमें उदारता मैं हूं ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ॥

मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

यादवोंमें वासुदेव हूं यहां वसुदेवका पुत्र यह विभूति है, पांड में अर्जुन हूं मुनियोंके बीचमें वेदव्यास हूं कविजनोंमें शुक्रा कवि हूं ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयितामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ॥

मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

शासनकर वशमें करनेवालोंमें दंड हूं जयकी इच्छावालोंमें ति हूं गुप्तकरनेके यत्नोंमें मौन हूं ज्ञानवालोंमें मैं ज्ञान हूं ॥ ३

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ॥

न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥

हे अर्जुन ! सबभूतोंका जो बीज अर्थात् आदिकारण है हूं और यह संपूर्ण चराचर भूतमात्र आत्मताकरके अवस्थि मेरे विना कछुभी नहींहै ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ॥
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥

हे परंतप! मेरी दिव्यकल्याणविभूतियोंका अंत नहींहै यह तो विभूतिका विस्तार मैंने संक्षेपमात्रसे कहाहै ॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ॥
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् ॥ ४१ ॥

जो जो प्राणीमात्र विभूति अर्थात् ऐश्वर्यवान् श्रीमान् अथवा ल्याणके आरंभोंमें उद्यत है तिसी २ को मेरे तेजसे उत्पन्नहुए- ो जान अर्थात् मेरी अचिंत्यशक्तिकी नियमनशक्तिकरके एक- ्से उत्पन्नहुआ जान ॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ॥
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-
ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

हे अर्जुन! अथवा इसबहुतसे ज्ञान कहनेंसे तुमको क्या है कि- यह चेतन अचेतनात्मक संपूर्ण जगत् कार्यअवस्थामें अथवा ्रणअवस्थामें और स्थूलसूक्ष्मस्वरूपके सद्भावमें स्थितिप्रवृत्ति- ें जैसे मेरे संकलपको उल्लंघके नहींवर्त्तताहै तैसेही मैं मेरी माके कोईक एक अंशवाले धारणकरके स्थित होरहाहूं सोही

१ अनन्तशक्ति परमात्माकी अनन्त विभूति है इससे विभूतियोंका नि- अशक्य है.

भगवान्पराशरने कहाहै कि "यस्याऽयुतायुतांशेन विश्वशक्तिरियं
स्थिता" इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि- गौडवंशावतंस- द्विज- शालग्रामात्मज- बुध-
वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ॥
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

भगवान्नें भक्तियोगकी उत्पत्तिकेवास्ते, और वृद्धिकेवास्ते
जब अपनी विभूति कहदी और उनमें अपना स्वरूप कहा तब सुनके
अर्जुन पूंछताहै, कि देहात्मा अभिमानरूप मोहकरके मोहित
मेरे अनुग्रहकेहीवास्ते परमगुह्य, परमरहस्य जो अध्यात्मसंज्ञि
अर्थात् आत्माविषैं वक्तव्यवचन अपनें कहा तिसकरके यह मे
आत्मविषयक मोह संपूर्ण दूर होगया ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ॥
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाऽव्ययम् ॥ २ ॥

और सातवेंअध्यायसे दशवें अध्यायपर्यंत संपूर्णभूतोंकी उत्प
और नाशभी परमात्मासे तुमसे मैंनें विस्तारपूर्वक सुनें. हे कमलप
क्ष ! अव्यय नित्य सर्वचेतनाचेतनवस्तुशेषित्व इत्यादि अपरि
आपका महात्म्यभी सुना ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ॥
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! हे पुरुषोत्तम !! आप अपनें आत्माको जैसा कहते-हो सो यह ऐसेही है परंतु आपके ऐश्वर अर्थात् असाधारण सबके शासनमें, पालनपनेंमें, सृष्टिरचन समयमें, संहार कर्त्तापनमें भर्त्तापनमें कल्याणगुणकर्त्तापनमें और संपूर्ण अन्योंसे विलक्षणपनेंमें जो अवस्थित है ऐसे आपके रूपको मैं साक्षात् प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा करताहूं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ॥
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! हे योगेश्वर ! जो यदि तिस अपनें रूपको मेरेकरके देखनें योग्य मानतेहो तो मेरेको तुम अपनें अव्यय संपूर्ण आत्माको दिखावो ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोथ सहस्रशः ॥
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

ऐसे आश्चर्यसे हर्षसे गद्गदकंठवाले अर्जुनसे पूछेहुए श्रीभगवान् कहनेलगे. हे अर्जुन ! सैंकडो और हजारों दिव्य और अनेक प्रकारके [वर्णों]से कियेहुए मेरे रूपोंको देखो ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ॥
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

---

१ हे आश्रितवात्सल्यैजलधे.

हे भरतवंशोद्भव ! मेरे एकरूपमें बारह आदित्य आठ वसु ग्यारह रुद्र अश्विनीकुमार मरुद्गण, इनप्रसिद्धोंको और इसजगत्में जो प्रत्यक्षमें देखी जातीहै तथा शास्त्रसे जो देखी सुनी जातीहै तिन सबवस्तुओंको मेरे आश्चर्यरूपोंको देखो ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ॥
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

इस मेरे एक देहमें एक देशमेंही स्थितहुए चराचर जगत्को देखो और हे गुडाकेश ! जो अन्य कछु देखाचाहते हो सोभी मेरे विग्रहके एकदेशहीमें संपूर्ण देखो ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ॥
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

मैं अपनी देहके एकदेशमें स्थितहुए संपूर्णजगत्को दिखावूंगा परंतु तुम तो अपने इस प्राकृत चक्षुकरके मेरे रूपको देखनेको समर्थ नहींहो इसलिये तुमको दिव्य अप्राकृत चक्षु देताहूं फिर मेरे ऐश्वर्ययोगको देखो ॥ ८ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ॥
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय धृतराष्ट्रसे कहनेलगे--कि हे राजन् ! महायोगेश्वर हरि विष्णुभगवान् ऐसे कहके फिर अर्जुनकेवास्ते परम ऐश्वर्य, ईश्वर संबंधी रूपको दिखातेभये ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ॥
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

वह ऐसा कि अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाला अनेक आश्च-र्य दिखानेवाला अनेक दिव्य, आभूषणोंसे युक्त दिव्यउद्यत अनेक शस्त्रोंवाला ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ॥
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिव्यपुष्पोंकी माला और दिव्यवस्त्रोंको धारण कियेहुए दिव्य-गंध और चंदनसे युक्त संपूर्ण आश्चर्योंसे युक्त, देव अर्थात् द्योतमान अनंत त्रिकालवर्त्ती चारों दिशाओंमें मुखवाला ऐसा रूप अर्जुन-को दिखातेभये ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ॥
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

आकाशमें हजारों सूर्योंका एकवार उदय होनेसे जो प्रकाश हो-वे सो प्रकाश उसमहात्मा भगवान्के तेजके समान हो अर्थात् अ-क्षयतेजःस्वरूपको दिखातेभये ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ॥
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तब अर्जुन तहां देवनके देव विष्णुभगवान्के शरीरमें एकजगँ-हही अनेकप्रकारसे जुदे जुदे हुए संपूर्ण जगत्को देखताभया ॥ १३ ॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ॥
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

तब वह अर्जुन श्रीकृष्णदेवको शिर नवाके प्रणाम कर आश्चर्य-

---

१ अप्राकृत. २ सबजगत् भगवान्के एकदेशमें स्थित है ऐसा देखनाही आश्चर्यका मूल है.

से युक्त हुआ रोमांचित हुआ अंजलि बांधके कहताभया ॥ १४ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतवि-
शेषसंघान् ॥ ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृ-
षींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोला–हे देव! आपके देहमें संपूर्णदेवतोंको देखताहूं औ-र संपूर्णभूतप्राणिमात्रोंके समूहको तथा ब्रह्माको और ब्रह्ममें नि-ष्ठावाले महादेवको और संपूर्णऋषियोंको और दिव्यसर्पोंको देखताहूं ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽ
नन्तरूपम् ॥ नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूपम् ॥ १६ ॥

हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप!! मैं अनेक भुजा अनेक उदर अनेक मुख और अनेक नेत्रोंवाले अनंतरूपवाले आपको सबतर्फसे देखताहूं और आपके अंत, मध्य आदि इनको नहीं देखताहूं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्व
तो दीप्तिमन्तम् ॥ पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं
समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

मुकुटवाले गदावाले चक्रवाले तेजके समूह सबतर्फसे दीप्तिमान् दृष्टिसे नहीं सहेजावे, दीप्त अग्नि और सूर्यके समान कांतिवाले अ-प्रमेय ऐसे आपको देखताहूं ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य

परं निधानम् ॥ त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगो-
प्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

उपनिषदोंमें दो विद्या जाननीयोग्य है इत्यादिकोंविषैं वेदितव्यतासे जो निर्दिष्ट, दिखायाहै सो परम अक्षर तुम हो. तुम इस विश्वके परम आधारस्वरूप हो. तुम अव्यय हो. अर्थात् जैसा स्वरूप विभव गुणवाले तुम हो वैसेही सदा रहतेहो नित्य जो वेदके धर्म उनधर्मोंकी रक्षा करनेवाले तुम हो तुम "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं परात्परं पुरुषम्" इत्यादिक श्रुतियोंविषैं कहेहुए सनातन पुरुषहो ऐसा मेरा मत है मैने जानाहै ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशि-
सूर्यनेत्रम् ॥ पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

आदि-मध्य-अंत इनसे रहित, अनवधिक[1] अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति, तेज इनके समुद्र अनंत भुजाओंवाले चंद्रमा और सूर्यकीतरह प्रसाद और प्रतापसे युक्त नेत्रोंवाले ज्वलितहुई अग्निके समान मुखवाले अपने तेजकरके इस संपूर्णविश्वको तपातेहुए ऐसे आपको मैं देखताहूं ॥ १९ ॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन
दिशश्च सर्वाः ॥ दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

हे महात्मन् विष्णो ! एक आपही करके पृथ्वी और आकाशके मध्यके संपूर्णलोक और संपूर्णदिशा व्याप्त होरहेहै सो ऐसे आपके

---

१ जिसका अवधि (यह वस्तु इतना है ऐसा परिच्छेद) नहीं.

अद्भुत उग्ररूपको देखके यह त्रिलोकी व्यथित होरहीहै ॥ २० ॥

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ॥ स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

और ये उत्कृष्टदेवतोंके गण तुमको विश्वाश्रय देखके तुम्हारे समीप प्राप्तहोतेहैं और तिनमें कईक भयभीत होके अंजलि बांधके आपकी स्तुति करतेहैं और महर्षि तथा सिद्धोंके गण स्वस्ति ऐसा कहके आपकी उत्तम स्तुतियोंकरके आपकी स्तुति करतेहैं ॥२१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ॥ गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

और रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यसंज्ञक देवते, विश्वेदेवा, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, ऊष्मपा नामक पितर, गंधर्व, यक्ष,असुर, सिद्धोंके समूह ये सब आश्चर्यको प्राप्तहोके आपको देखतेहैं ॥ २२ ॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ॥ बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

हे महाबाहो ! बहुत मुख और बहुत नेत्रोंवाले बहुत भुजा और बहुत चरणोंवाले बहुतसे उदरवाले और बहुतसी दंष्ट्राओंसे विकराल आकारवाले ऐसे आपके इस महान्‌रूपको देखके पूर्वोक्त संपूर्णलोग और मैं सब व्यथित होरहेहैं ॥ २३ ॥

१ अत्यन्तभीत.

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्त-
विशालनेत्रम् ॥ दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्त-
रात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

हे विष्णो ! नभ कहिये प्रकृतिसे परे जो परमआकाश तहांपर्यंत स्पर्शवाले दीप्त, अनेक वर्णवाले, और मुखको फाडेहुये, उज्वलित विशाल नेत्रोंवाले ऐसे तुमको देखिके अत्यंत भयभीतमनवाला हुआ मैं धीरज नहीं धरताहूं और शांतिको नहीं प्राप्तहोताहूं अर्थात् प्रशिथिलसर्वांगवाला व्याकुल इंद्रियोंवाला हूं ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव काला-
नलसन्निभानि ॥ दिशो न जाने न लभे च
शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

और दंष्ट्राओंसे विकरालहुये युगांतकी अग्निकेसमान घोर आपके मुखोंको देखके मैं दिशाओंको नहीं जानताहूं और सुखको नहीं प्राप्तहोताहूं हे जगन्निवास देवेश ! तुम मेरेप्रति प्रसन्नहो जैसे मैं अपनी प्रकृतिस्वभावको प्राप्त होऊं तैसे करो ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहै-
वाऽवनिपालसंघैः ॥ भीष्मो द्रोणः सूतपुत्र-
स्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥२६॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरा-
लानि भयानकानि ॥ केचिद्विलग्ना दशनान्त-

१ "तमक्षरे परमे व्योमन् आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् क्षयं तमस्य रजसः पराके ये अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" इत्यादिश्रुतिसे नभःशब्द परमाकाशबोध्य ब्रह्मका बोधक है.

रेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

और ये संपूर्ण धृतराष्ट्रके पुत्र तथा संपूर्ण राजाओंके समूह भीष्म, द्रोण, कर्ण, ये और इनके पक्षमें रहनेवाले संपूर्ण और हमारी सेनाके मुख्य २ योद्धा, ये संपूर्णही शीघ्रता करतेहुए, दंष्ट्राओंसे विकराल आकृतिवाले तुह्मारे भयानक मुखोंमें, नष्ट होनेकेलिये प्रवेश होतेहै तिनमें कितेक तो (दंष्ट्रा) जाडोंके तथा दांतोंकेबीचमें आके चूर्णित भयेहुए मस्तकोंवाले होरहेहै ऐसे दीखतेहैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभि-
मुखा द्रवन्ति ॥ तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय
समृद्धवेगाः॥ तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

जैसे नदियोंके बहुतसे जलोंके वेग समुद्रमेंही जाके प्राप्तहोतेहै तैसेही ये नरलोकके शूर वीर योद्धा ज्वलित होतेहुए तुह्मारे मुखोंमें प्रवेश होतेहै जैसे बढेहुए वेगवाले पतंग जीव प्रदीप्तहुए अग्निमें अपनें नाशकेवास्ते गिरतेहै तैसेही ये समृद्धवेगवाले मनुष्य अपनें नाशकेवास्ते तुह्मारे मुखोंमें प्रवेश होतेहै ॥ २८ ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समंताल्लोकान् समग्रान्
वदनैर्ज्वलद्भिः ॥ तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

संपूर्णराजालोगोंको ज्वलितहुए मुखोंकरके ग्रासकरतेहुए तुम

तिनके रुधिरसे लिपेहुए अपने होठोंको चाटतेहो हे विष्णो[1]! तुह्मारी अतिघोर तेजकी किरण अपनें तेजसे संपूर्णजगत्को आपूरितकरके तपीरहीहै ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोस्तु ते
देववर प्रसीद ॥ विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमा-
द्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

हे देवोत्तम! तुम उग्ररूपवाले कौन हो यह मेरे आगे कहो आपके अर्थ नमस्कार है मुझपै प्रसन्न हो तुमको सबके आदिभूतको क्या करनेंकेवास्ते प्रवृत्त भयेहो ऐसे नहीं जानताहूं इसलिये तुमको जाननेकी इच्छा करताहूं ॥ ३१ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाह-
र्तुमिह प्रवृत्तः ॥ ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति
सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

श्रीभगवान् कहनेलगे-धृतराष्ट्रके पुत्र आदि संपूर्ण राजालोगोंका क्षय करनेंवाला काल हूं और घोररूपकरिके प्रवृद्धहुवे इनराजालोगोंको मारनेंकेवास्ते प्रवृत्त हूं इसलिये मेरे संकल्पसेही तेरे योगकेविनाभी ये जो धार्तराष्ट्र आदि प्रतिपक्षी योधा है सो सब नष्ट होजावेंगे ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्
भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ॥ मयैवैते निहताः पूर्व-
मेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

---

१ सर्वव्यापिन् (चराचरमें व्याप्त)

इसलिये तुम युद्धकेवास्ते खडेहो शत्रुओंको जीतके यशको प्राप्तहो और धर्मसे युक्तहुए समृद्धराज्यको भोगो ये तो पहलेही माररक्खेंहैं हे सव्यसाचिन् ! अर्थात् वामें हाथकरकेभी बाणक्षेप करनेवाले तुम तो निमित्तमात्र होवो अर्थात् मारनेंवालेके मेरे शस्त्रस्थानमें होजावो ॥ ३३ ॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि
योधवीरान् ॥ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण इनको तथा अन्य योद्धाओंको मेरे-करके हतहुयोंको मारो दुःखित[1] मत हो युद्ध करो रणमें शत्रुओंको जीतोंगे ॥ ३४ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमा-
नः किरीटी ॥ नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

धृतराष्ट्रसे, संजय कहताभया शरणागतपै दयाके सागर ऐसे विष्णुभगवान्के इसवचनको सुनके, अर्जुन कंपताहुआ अंजलि बांधके नमस्कार कर फिरभी भयभीतहुआ प्रणामकर गद्गदकंठ युक्त हो श्रीकृष्णसे कहताभया ॥ ३५ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्य-

---

१ धर्माधर्मके भयसे तथा बन्धुस्नेहसे तथा बन्धुओंके ऊपर कृपा करनेसे व्यथित मतहो.

नुरज्यते च ॥ रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोला-हे हृषीकेश ! तुह्मारी कीर्तिकरके यह जगत् आनंदको प्राप्त होताहै और अनुरंजित अर्थात् आपसे प्रीति करताहै और राक्षस भयभीतहुए दिशाओंमें भाजतेहै संपूर्णसिद्धोंके समूह नमन करतेहै यह सब 'स्थाने' अर्थात् योग्यही है ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्र-
ह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ॥ अनन्त देवेश जगन्नि-
वास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

हे महात्मन् ! ब्रह्मासेभी बडे हिरण्यगर्भके आदिकर्त्ता ऐसे तुमको ब्रह्मा आदिक कैसे नमस्कार नहींकरैं हे अनंत! हे देवेश!! हे जगन्निवास !!! तुमही अक्षर अर्थात् जीवात्मतत्त्व हो और कार्यकारण भावकरके अवस्थित जो प्रकृतितत्त्व तिससे परै जो मुक्त आत्मा सो आपही हो ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य
परं निधानम् ॥ वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च
धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

तुम आदिदेव हो पुराणपुरुष हो तुम इसविश्वके परमनिधान हो, आधारभूत हो जगत्में सबको जाननेंवाले हो वेद्य अर्थात् जाननेंयोग्य, परमधाम प्राप्यस्थान यह सब तुमही हो हे अनंतरूप ! यह संपूर्ण आपकरके व्याप्त होरहाहै ॥ ३८ ॥

---

१ नामरूप विभागसे कार्यावस्थ (कार्यरूपसे स्थित)

२ चित् अचित्करके यह जगत् संपूर्ण.

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं
प्रपितामहश्च ॥ नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृ-
त्वः पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, पितामह, ब्रह्मा और प्रपितामह अर्थात् ब्रह्माकेभी पिता ऐसे तुमको नमस्कार है नमस्कार है फिर- भी वारंवार हजारों नमस्कार है ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोस्तु ते सर्वत
एव सर्व ॥ अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं
समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अर्जुन भगवान्के अतिआश्चर्यके आकारको देखके अत्यंत भय- से अवनतहुआ सबतर्फसे नमस्कार करताहै. हे अनंतपराक्रमवाले! तुमको आगेसे नमस्कार है और पीठपीछेसे नमस्कार है. हे सर्वस्व- रूप! आपको सबतर्फसेही नमस्कार है आप अतुलपराक्रमवाले हो आत्मताकरके सर्ववस्तुको प्राप्तहो इसीलिये तुम सर्वमें व्यापकहोनें- से सर्व हो ॥ ४० ॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे या-
दव हे सखेति ॥ अजानता महिमानं तवे-
दं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चापहासार्थमसत्कृतोसि विहारशय्यासन-
भोजनेषु ॥ एकोथवाप्यच्युत तत्समक्षं त-
त्क्षामयेत्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

तुम्हारी इस अचिंत्यमहिमाको नहीं जानतेहुए मैंने अज्ञानसे अ- थवा बहुतकालके परिचयसे आपको सखा, ऐसा मानके हठसे ति-

श्री राम शैव आश्रम

रस्कारकरके जो हे कृष्ण! हे यादव!! हे सखे!!! ऐसा कहाहै और अन्य जो कछु हास्यकेवास्ते क्रीडा, शय्या, आसन, भोजन इत्यादिकोंमें विपरीत कियाहै और अकेला अथवा अन्योंके सन्मुख जो मैंने हास्य आदि तिरस्कृतकिये हो, तिस संपूर्णको, अपरिमित आपसे मैं क्षमा कराताहूं ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्य-
श्च गुरुर्गरीयान् ॥ नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकः कु-
तोऽन्यो लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभावः ॥ ४३ ॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वाम-
हमीशमीड्यम् ॥ पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥

हे अतुलप्रभाववाले देव ! तुम चराचरलोकके पिता हो और तुम इसलोकके गुरु हो इसीलिये इसचराचरलोकके बडे पूज्य हो तुम्हारे समान इसलोकमें कोई नहींहै फिर अधिक तो अन्य कोई कहांसे हो, इसलिये ईश्वर स्तुति करनेंके योग्य ऐसे तुमको शरीरसे दंडवत् कर प्रणामकर प्रसन्न करताहूं हे देव ! जैसे पिता पुत्रके और मित्र मित्रके अपराधको सहलेताहै तैसेही प्रियभूत मेरे अपराधको सहो ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्य-
थितं मनो मे ॥ तदेव मे दर्शय देव रूपं प्र-
सीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अत्यंतअद्भुत अतिउग्र ऐसे आपके रूपको देखके मैं प्रसन्न हो-

१ कारुण्य आदि गुणोंकरके युक्त.

गया परंतु मेरा मन भयसे दुःखित होरहाहै हे देवेश ! हे जगन्निवास ! इसलिये मुझको उसही रूपको दिखावो प्रसन्न हो ॥ ४५ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्र-
ष्टुमहं तथैव ॥ तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सह-
स्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

मैं तैसेही पहलेकीतरह मुकुटवाले गदावाले हाथमें सुदर्शनचक्र-को धारण कियेहुए ऐसे आपको देखनेंकी इच्छा करताहूं हे सहस्रभु-ज ! हे विश्वमूर्त्ते !! आप तिसही चतुर्भुजरूपसे युक्तहो ॥ ४६ ॥

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शित-
मात्मयोगात् ॥ तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् बोले-हे अर्जुन ! प्रसन्नहुए मैंनें यह रूप तुमको अपनें योगसे दिखायाहै क्यों कि तेजका समूह विश्व अर्थात् सर्वात्मस्वरूप अंतरहित मुझसे व्यतिरिक्त संपूर्णवस्तुका आदिभूत ऐसा यह मेरा रूप तुम्हारे विना अन्य किसीकोभी पहले नहीं दिखायाहै ॥ ४७ ॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न त-
पोभिरुग्रैः ॥ एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्र-
ष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

हे कुरुश्रेष्ठ ! अनन्यभक्तिकेविना अन्य संपूर्णउपायोंकरके मैं दर्श-नकरनेंको समर्थ नहींहूं यह कहतेहैं-वेद, यज्ञ, अध्ययन इन्होंकरके तथा दान, कर्म, उग्रतप इन्होंकरके मेरे ऐसेरूपको मनुष्यलोकमें दे-खनेंको तुम्हारे विना कोई समर्थ नहींहै ॥ ४८ ॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं
घोरमीदृङ्ममेदम् ॥ व्यपेतभीः प्रीतमनाः
पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

मेरे ऐसे दारुणरूपको देखके तेरेकूं व्यथा मतहो और मोहभावभी मतहो भयरहित हो प्रसन्नमनवाला होके फिर तुम तिसही मेरे इसरूपको देखो ॥ ४९ ॥

॥ सञ्जय उवाच ॥

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं द-
र्शयामास भूयः ॥ आश्वासयामास च भी-
तमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

धृतराष्ट्रसे संजय कहताहै- वसुदेवके पुत्र भगवान् इसप्रकारसे अर्जुनसे कहके फिर तैसाही अपनें रूपको दिखातेभये और पूर्ववत् सौम्यशरीरवाले हो फिर भयभीतहुए अर्जुनको आश्वासित, धीरजसुख करातेभये ॥ ५० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ॥
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

फिर तिससौम्यरूपको देखके अर्जुन बोला-हे जनार्दन! दृष्टिचित्तापहारी सौंदर्य सौकुमार्यादि गुणयुक्त आपका असाधारण मनुष्याकारवाले इसरूपको देखके अब मैं सचेतभयाहूं यथावस्थित स्वभावको प्राप्तहोगया ॥ ५१ ॥

---

१ किरीट मकरकुण्डल शंखचक्र गदापद्म युक्त तथा श्रीवत्स कौस्तुभ वनमाला पीतांबरादि करके शोभित अपने चतुर्भुजरूपको.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ॥
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् कहतेहैं-हे अर्जुन ! जिसको तुम देखतेभये यह मेरा, सर्वके प्रशासनमें अवस्थित सर्वाश्रय सबका कारणभूत ऐसा रूप दर्शनहोनेंको बडा दुर्लभ है इस मेरे रूपको देखनेंकी देवतेभी नित्य इच्छा करतेहैं ॥ ५२ ॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥

जिसप्रकारसे प्रत्यक्ष मेरा दर्शन तुमनें कियाहै ऐसे प्रकारसे मैं वेद, तप, दान, यज्ञ इन्होंकरके देखनेंमें नहीं आताहूं ॥ ५३ ॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ ५४ ॥

हे अर्जुन ! मैं अनन्यएकाग्रभक्तिकरके तथा शास्त्रके तत्त्वसे जाननेंके योग्य हूं और हे परंतप! शास्त्रके तत्त्वसेही मैं प्रवेश होनेंको समर्थ हूं ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ॥
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः समामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥ ११

हे पांडव ! मत्कर्मकृत् अर्थात् जो वेदाध्ययन आदि संपूर्णकर्मों

मेरे आराधनस्वरूपसे करताहै और जो संपूर्ण आरंभोंमें मुझको-ही परमउद्देश्य मानताहै ऐसा मेरा भक्त जो संपूर्णभूतोंमें वैरद्वेष रहित है सो मुझको प्राप्तहोताहै ॥ ५५ ॥

इति श्रीबेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ॥
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णभगवान्नैं पहले तो आत्मज्ञानकी प्रशंसा कही पीछे अब "मत्कर्मकृत्" इत्यादिकवचनोंकरके भगवत्उपासनाही मुख्य कही ऐसे इनदोनुवोंको सुनके अर्जुन पूछताहै-कि, ऐसे इसपहले अध्यायमें कहेहुए भक्तियोगमें युक्तहुए जो भक्तजन आपकी उपासना करतेहैं और जो प्रत्यगात्मस्वरूप अव्यक्त अर्थात् चक्षु आदि इंद्रियनसे प्रकट नहींकियेजावें ऐसे अव्यक्त आत्मस्वरूपकी उपासना करतेहैं इनदोनुवोंमें अधिकश्रेष्ठ कौनसे हैं ॥ १ ॥

१ मेरा कीर्त्तन स्तुति ध्यान अर्चन आदियोंके विना जो अपना आत्माका धारणकरनेमें असमर्थ ऐसा भक्त.

२ अक्षर शब्द नित्यमुक्तपुरुषका बोधक है.

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् कहनेलगे-जो भक्त मेरेविषैं मनकों लगाके नित्ययोगकी इच्छा करतेहुए और परमश्रद्धासे युक्तहुए मेरी उपासना करतेहैं वे युक्ततम अर्थात् योगियोंमें श्रेष्ठ है मेरे मान्य है अर्थात् मुझको सुखकरके शीघ्रही प्राप्त होजातेहै ॥ २ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ॥
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ॥
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

और जो ज्ञानिजन संपूर्णइंद्रियोंके समूहको नियमन, वशमें करके सबजगह समानबुद्धिवाले हुए इसीकारणसे संपूर्णभूतोंके हितमें रत अक्षर अर्थात् प्रत्यगात्मस्वरूप देहसे अन्यताकरके देवशब्दआदिकोंकरके अनिर्देश्य अव्यक्त अर्थात् चक्षु आदि करणोंकरके अनभिव्यक्त, कूटस्थ अर्थात् देव आदि संपूर्णजगँह एकआकारसे स्थित अचल, अपनें स्वरूपमेंही स्थित रहनेंवाला अचिंत्य, सर्वव्यापी ध्रुव अर्थात् नित्य ऐसे मेरे स्वरूपकी उपासना करतेहै वेभी मुझकोही प्राप्त होतेहै अर्थात् मेरे समान आकार, जन्ममरणरहित, ऐसे आत्माको प्राप्त होतेहै ॥ ३ ॥ ४ ॥

क्लेशोधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

परंतु तिन अव्यक्तमें आसक्तचित्तवाले अर्थात् आत्मामें

लगानेवालोंको अनुष्ठानदशामें अधिक क्लेश होताहै क्यों कि अव्यक्तविषयक मनकी वृत्ति, देहात्माके अभिमानीजनोंको दुःखसे प्राप्त होतीहै किंतु देहवाले देहकोही आत्मा मानतेहै ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ॥
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ॥
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

और जो मेरे भक्त भोजन आदि लौकिककर्मोंको और यज्ञ दान आदि संपूर्णवेदोक्त कर्मोंको मेरेविषें समर्पण कर मेरेविषें तत्पर अर्थात् एकमुझकोही प्राप्य मानके अनन्ययोगकरके मेरा ध्यान करतेहुए उपासना करतेहै उनका मैं मृत्युरूप संसारसागरसें उद्धार करताहूं. हे पार्थ! मेरेविषें चित्त लगायेभये ऐसे इनभक्तोंका उद्धार करनेंवाला मैं शीघ्रही होताहूं ॥ ६ ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ॥
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इसलिये मेरेविषैंही मनको समाधान करो और मेरेविषेंही बुद्धिको निवेश करो और मैंही परमप्राप्य हूं ऐसा निश्चय करो इससे अनंतर मेरेविषैंही निरंतर वास करोगे इसमें संदेह नहींहै ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ॥
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

और जो यदि सहसा एकवार मेरेविषें चित्तको स्थिर समाधान करनेंको समर्थ नहींहो तो हे अर्जुन! अभ्यासयोगकरके अर्थात्

स्वाभाविक, अनवधिक, अतिशयसौंदर्य, सौशील्य, सौहार्द, वात्सल्य, सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, असंख्येयकल्याणगुणसागर, इत्यादिअनेकगुणों-वाले मेरेविषैं प्रेमसे ग्रथितहुए स्मृतिरूप अभ्यासयोगकरके स्थिर-चित्तको समाधान कर मुझको प्राप्तहोनेंकी इच्छा करो ॥ ९ ॥

अभ्यासेप्यसमर्थोसि मत्कर्मपरमो भव ॥
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

और जो यदि ऐसे प्रकारकी स्मृतिके अभ्यासमेंभी असमर्थ हो तो मेरे कर्म मंदिर करवाना, दीपारोपण, मार्जन, अभ्युक्षण, मेरी पूजाकेवास्ते पुष्प आदि लाना प्रदक्षिणा प्रणाम इत्यादि कर्मोंको अ-त्यंतप्रियताकरके करो ऐसे मदर्थ कर्म करताहुआभी मत्प्राप्तिरूप-सिद्धिको प्राप्तहोगा ॥ १० ॥

अथैतदप्यशक्तोसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

और जो यदि मेरे योगके आश्रय होके यहभी करनेंको समर्थ नहींहो तो मेरे गुणोंका अनुसंधानकरके उत्पन्नहुए मैंही जिसमें एक-प्रिय ऐसे मेरे भक्तियोगके आश्रय होके मनको सावधान कियेभये संपूर्णकर्मोंके फलका त्याग करो ॥ ११ ॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ॥
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

भगवत्स्मृतिरूप अभ्याससें, अक्षरके याथात्म्यानुसंधान-पूर्वक अपरोक्षज्ञानही आत्माके हितमें विशेष उत्तम कहाहै और नहीं सिद्धभये आत्मअपरोक्षज्ञानसे उत्तम, तिसका उपायभू-त आत्माका ध्यानही उत्तम है और नहीं सिद्धभये ध्यानसे फलों

का त्यागपूर्वक अनुष्ठितकर्म श्रेष्ठ है जो यदि इसप्रकारसे कर्मोंके फलका त्यागभी नहींहो तो तिसका उपायभूत मनकी शांति संसारमें वैराग्य करना उत्तम है ॥ १२ ॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ॥
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ॥
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

जो सबभूतोंका द्वेष करतेहुयोंकाभी द्वेष करनेंवाला न हो सबभूतोंमें मित्रता करनेवाला, दया करनेवाला, देह इंद्रिय आदि वस्तुओंमें ममता नहींकरनेंवाला, देहमें आत्माका अभिमान नहींकरनेवाला, इसीलिये सुखदुःखमें समान रहनेंवाला, क्षमावाला जितना लब्ध होवे उसमेंही संतुष्ट रहनेवाला निरंतर प्रकृतिवियुक्तआत्माके अनुसंधानमें तत्पर मनकी वृत्तिको वशमें रखनेवाला अध्यात्मशास्त्रमें कहेहुए अर्थोंमें दृढनिश्चयवाला ऐसा यह मेरा भक्त इसप्रकारसे मेरेविषैं मन बुद्धिको लगाकै ऐसे कर्मयोगकरके मुझको भजताहै वह मेरा प्रिय है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ॥
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

---

१ तात्पर्य यह है कि फलानुसंधानरहित अनुष्ठितकर्मसे पापत्यागपूर्वक मनकी शांति होयगी शांतमनसे आत्माका ध्यान सिद्ध होयगा ध्यानसे अपरोक्षज्ञान अपरोक्षज्ञानसे परभक्ति होतीहै इससे भक्तियोगाभ्यासमें असक्त पुरुषका आत्मनिष्ठामें शांत हुवाहै मन जिनका ऐसे आत्मनिष्ठपुरुषकी निष्ठा प्राप्तांतर्गत आत्मज्ञानसहित फलकर्मानिष्ठाही उत्तम है.

जिसपुरुषसे[1] जीवमात्र त्रास न पावे और जो अन्यकिसीप्राणीसे उद्वेग नहींपावे अर्थात् जिसके उद्देशसे सबजन उसको दुःखकारक कर्म न करें और जो हर्ष, ईर्षा, भय, उद्वेग, इनसे विमुक्त होवे ऐसा वह मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ॥
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

आत्मव्यतिरिक्त संपूर्णवस्तुओंकी अपेक्षा[2] नहींरखनेंवाला पवित्र, शास्त्रोक्त अपने धर्मोंमें चतुर उदासीन अर्थात् शत्रुता मित्रतासेरहित शास्त्रोक्त संपूर्णकर्मोंमें शीत उष्ण आदि स्पर्शोंमें व्यथारहित शास्त्रके कर्मोंसे अन्यसंपूर्णकर्मोंका परित्याग करनेंवाला ऐसा जो मेरा भक्त है सो मुझको प्रिय है ॥ १६ ॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ॥
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

जो[3] मनुष्योंको हर्ष देनेंवाली वस्तु है तिनको प्राप्त होके आनंदित नहींहोवे अप्रियसे द्वेष नहींकरे शोकनिमित्तकी वस्तुका शोच नहींकरे और हर्षकारक अप्राप्तहुए स्त्रीपुत्रआदिकोंकी इच्छा नहींकरे, पापकीतरह पुण्यकोभी बंध होनेंसेही शुभाशुभदोनोंकाही परित्याग करनेवाला ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ॥
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ॥

---

१ कर्मनिष्ठपुरुषसे. २ यदृच्छापूर्वक प्राप्तवस्तुमें जो इच्छा नहींकरै सो अनपेक्षशब्दका अर्थ है इति श्रीधरः. ३ कर्मयोगी.

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

"अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" इत्यादिक वचनोंकरके शत्रु मित्र आदिकोंमें द्वेषादिकका राहतपना कहा अब उनके समीपहोनेंमेंभी जो द्वेषादिक न होना सो तिससे विलक्षण है यह कहतेहै- शत्रुमें और मित्रविषैं समान, मान और अपमानविषैं समान, शीत उष्ण, सुख दुःख, इन्होंमें समान संगरहित, निंदा और स्तुतिमें तुल्य रहनेंवाला, मौनी अर्थात् मितभाषण करनेंवाला जैसे तैसे लब्धहुए करके संतुष्ट, आत्माविषैं स्थिरबुद्धि होनेंकरके स्थान आदिकोंमें असक्त ऐसा भक्तिमान्पुरुष मुझको प्रिय है ॥ १८ ॥ १९ ॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ॥
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इससे आत्मनिष्ठपुरुषसे भक्तियोगमें निष्ठावालेको श्रेष्ठपना कहतेहुए यथोपक्रमके[1] अनुकूल समाप्ति करतेहै-जो श्रद्धाधारण करनेंवाले मुझकोही परमप्राप्य माननेंवाले पुरुष, धर्म्यामृत अर्थात् मेरेविषैं मन लगाना इत्यादिक धर्मस्वरूप इसअमृतको, "मय्यावेश्य मनो ये मा" मित्यादिकउक्तप्रकारसे उपासना करतेहै वे भक्त मुझको अत्यंत प्रिय है ॥ २० ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुधवसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२॥

यहां द्वितीयषट्क समाप्तभया ।

१ जैसा आरम्भ है उसके.

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ॥
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥ १ ॥

पहले छह अध्यायोंमें परमप्राप्य परब्रह्मभगवान् वासुदेवकी प्राप्तिका उपाय भक्तिरूप भगवत्‌उपासनाका अंगभूत प्रत्यगात्माका याथात्म्यज्ञान कहा और यह ज्ञान ज्ञानयोग तथा कर्मयोग इनदोनों निष्ठाओंसे सिद्ध होताहै यह कहा और मध्यके छह अध्यायोंमें आत्यंतिक भक्तियोगकी निष्ठा कही तथा अधिकऐश्वर्याकांक्षी केवल आत्मस्वरूपप्राप्तिके आकांक्षी इनकोभी भक्तियोगही इनके वांछितका साधन है यह कहा. अब अंतके छह अध्यायोंमें प्रकृति, पुरुष, और इनका संबंधरूप प्रपंच ईश्वरका यथार्थस्वरूप और कर्म ज्ञान, भक्ति इनका स्वरूप कर्मादिकोंके अनुष्ठानके प्रकार, इनसब पूर्वोक्तोंका शोधन करतेहैं तहां पहले तेरहवें अध्यायमें देह तथा आत्माका स्वरूप तथा देहवियुक्त आत्मप्राप्तिका उपायरूप विविक्त आत्मस्वरूपका शोधन तथा आत्माके प्रकृतिसंबंधका हेतु तथा विवेकानुसंधानकी रीति यह सब अर्थ कहतेहैं- श्रीभगवान् बोले हे कौंतेय! यह शरीर मैं देवता हूं मनुष्य हूं ऐसे भोक्ता जीवात्माके संग एकरूप प्रतीतहोनेंवाला भोक्ता जीवात्मासे पृथक् वस्तु भोगस्थान क्षेत्र है ऐसे तत्त्वज्ञ लोग कहतेहैं, सो ऐसे इसको जो जानताहै उसको तत्त्वविद अर्थात् आत्मज्ञानी लोग क्षेत्रज्ञ कहतेहैं अर्थात् देह तो क्षेत्र कहाताहै और आत्मा क्षेत्रज्ञ कहाताहै ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

हे भारत! देवआदिक संपूर्णशरीरोंकेविषें ज्ञानवान् क्षेत्रज्ञको 'मां' अर्थात् मेरा शरीर जान अपिशब्दकहनेंसे क्षेत्रकोभी मेरा शरीर जान यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका विवेकविषयक ज्ञान तथा क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, दोनों भगवान्का शरीर है यह जो ज्ञान है यही ज्ञान ज्ञानीजनोंको अंगीकार करना योग्यहै यह मेरा मत है यह लोकार्थ भया-इसमें कोईक ऐसा कहतेहैं कि इसश्लोकमें गीताचार्यनें जीवात्मा परमात्माकी एकता कहीहै सो यह कथन गीताशास्त्रका पूर्वापरश्लोकवाक्योंविषें वाच्यार्थ तथा तात्पर्यार्थका उपक्रम उपसंहार आदि अर्थनिर्णायक हेतुवोंसें निश्चयकियाजावे तो उनका कथन अज्ञानमूलक तथा आग्रहमूलक है क्यों कि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" इत्यादि "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर क्षरात्मानावीशते देव एक" इति "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोयं पृथिवी न वेद" "यस्य पृथिवी शरीरम्" "यः पृथिवीमन्तरो यमयति" "स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" यहांसे लेके "यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" "स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्यादिकश्रुतिशतोंकरके जीवात्मा तथा परमात्मा पृथक् २ मालूम होतेहैं और जीवात्मा, परमात्माका शरीरशरीरीभावभी मालूम होताहै शरीरवाची शब्द जो है वे शरीरीपर्यंत अर्थको कहतेहै इस परमप्रामाणिकन्यायके बलसे अभेदबोधकवाक्योंकी संगति सुस्पष्ट है यहां विशेष साधकबाधक युक्ति श्रुतिस्मृतियोंका भाष्यादिकग्रंथोंमें अवलोकन करलेना ॥ २ ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत् ॥
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो द्रव्य है और जिनका आश्रय है जो इसके विकार है

जिससे उत्पन्न भयाहै और जिसप्रयोजनकेवास्ते है जो इसका स्वरूप है तथा उसक्षेत्रज्ञकाभी जो स्वरूप है और जो प्रभाव हैं तिन संपूर्णों-कों संक्षेपसे सुनों ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ॥
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

सो यह ऐसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप पराशर आदि महर्षियोंनें बहुतप्रकारसे गायाहै अर्थात् "अहं त्वं च तथान्ये च" इत्यादि "ततो-हमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम्" इत्यन्तं तथा "किंत्वमे तच्छिरः किंनु०" इत्यादि "भूत्वा चिन्तय पार्थिव" इत्यन्त इन-वचनोंसे कहाहै तथा विविक्तस्वरूप जो क्षेत्रक्षेत्रज्ञ हैं इन दोनोंको वासुदेवात्मकताभी "इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः । वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च" इत्यादिवचनोंसे कहीहै और छंदोभिः अर्थात् ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, इन अनेकप्रकार-के छंदोंनभी देहका और आत्माका स्वरूप पृथक् २ निरूपण किय है और ब्रह्मसूत्र अर्थात् वेदव्यासकृत शारीरकसूत्रोंनें और का-रणयुक्त सिद्धांत करनेंवालोंनेंभी यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञका स्वरूप जुदा २ कहाहै वही सुनों ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ॥
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ॥
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

पृथ्वी[1], जल[2], अग्नि[3], वायु[4], आकाश[5], ये महाभूत, और भूतादि अहंकार, बुद्धि अथात् महत्तत्त्व, प्रकृति, दश इंद्रिय, एक मन शब्द स्पर्श आदि इंद्रियनकेविषय, जैसे कि श्रोत्र, त्वचा, चक्षु[3], जिह्वा, नासिका, ये ८

ज्ञानइंद्रिय. वाणी, हस्त, पाद, गुद, लिंग, ये ५ कर्मेंद्रिय एक मन. शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ये ५ इंद्रियोंके विषय, ऐसे सोलह विकार और ८ प्रकृति ये२४तत्त्व तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ये संपूर्णही क्षेत्रकार्य अर्थात् क्षेत्रके विकार कहातेहैं यद्यपि इच्छा, द्वेष-सुख, दुःख, ये आत्माके धर्मभूत है तथापि आत्माके क्षेत्रसंबंधप्रयुक्त होनेंसे येभी क्षेत्रके विकारही कहेहैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ॥
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अब क्षेत्रके कार्योंमें आत्मज्ञानकी साधनताकरके ग्राह्यगुणोंको कहतेहैं-जैसे कि, अमानित्व अर्थात् उत्तमजनोंमें अपने मानको नहींचाहना, लोगोंको दिखानेको धार्मिक यशकेवास्ते धर्मरूप दंभ न करना वाणी, मन, शरीर इनकरके अन्य किसीको पीडा न देनी अन्यसे पीडितहुआभी तिसपै क्रोध न करना सबसे सरल रहना आत्मज्ञान देनेंवाले आचार्यविषैं प्रणाम आदि सेवा करनेंमें रहना शौच अर्थात् ईश्वरस्मरणयोग्य शुद्धअंतःकरण रखना अध्यात्मशास्त्रमें कहेहुए अर्थोंविषैं निश्चल रहना आत्मस्वरूपसे व्यतिरिक्तविषयोंमांहसे मनको हटाना ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इंद्रियोंके विषयोंमें वैराग्य करना अनात्मा देहविषैं तथा देहसंबंधी पदार्थोंविषैं आत्माका अभिमान नहींकरना और जन्म मृत्यु वृद्धावस्थाकी व्याधि इनमें दुःखस्वरूप, अवर्जनीयदोषको देखना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ॥

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

आत्मासे व्यतिरिक्तविषयोंमें आसक्ति नहींकरना पुत्र, स्त्री, घर इत्यादिकोंमें आसंग नहींकरना अच्छी बुरी वस्तुओंको प्राप्तिविषैं नित्य समानचित्त रक्खैं ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ॥
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

मैं जो सर्वेश्वर हूं तिस मेरेविषैं निरंतर स्थिरभक्ति रखना जनोंसेरहित एकांतदेशमें वास करना मनुष्योंकी सभामें प्रीति नहींकरनी ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ॥
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

आत्मज्ञानविषैं अविच्छिन्न निष्ठा करनी अर्थात् तत्त्वज्ञानका जो प्रयोजन है उसविषैं निरंतर रतरहना, और क्षेत्रसंबंधी पुरुषके यह अमानित्वसे आदि यहांतक जो गुणसमूह कहाहै सो आत्मज्ञानका उपयोगी है और इससे व्यतिरिक्त संपूर्ण क्षेत्रकार्यमात्र आत्मज्ञानविरोधी अज्ञान है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ॥
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अब जाननेंके योग्य क्षेत्रज्ञके स्वरूपका शोधन करतेहैं जिसको जानके यह मनुष्य अमृत अर्थात् मुक्तआत्मस्वरूपको प्राप्तहोता

---

१ वासुदेवभगवान्से अन्यकोई हमारी गति नहीं ऐसा निश्चयही अन्ययोग है. २ अज्ञानका त्यागपूर्वक ज्ञानही उपादेय है यह तात्पर्य मधुसूदनमिश्र कहतेहैं.

है सो वह आदिरहित, जन्मरहित मत्पर अर्थात् मैंही जिसके परम-श्रेष्ठ सो कहाभी है कि "भगवच्छरीरतया भगवच्छेषतैकरसं ह्यात्म-स्वरूपम्" इति ब्रह्म अर्थात् प्रकृतिसे वियुक्त जीवात्मा ऐसा है और कार्य, कारण, अवस्थाकरके रहित होनेंसे वह आत्मा सत् असत् इनदोनोंही शब्दोंकरके नहीं कहाजाताहै ॥ १२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ॥
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

वह आत्मा सबतर्फ हाथपैरोंवाला है सबतर्फ आंखिशिरमुखवाला है सबतर्फ कानवाला है लोकमें जो कछु वस्तुमात्र है तिस सबको व्याप्तहोयके रहताहै अर्थात् परिशुद्ध स्वरूप है देश आदिके परिच्छे-दरहित होनेंकरके सर्वगत है ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

संपूर्णइंद्रियोंकी वृत्तियोंकरके विषयोंको जाननेंमें समर्थ है और स्वभावसे सबइंद्रियोंसे रहित है अर्थात् इंद्रियोंकी वृत्तिके विनाही स्वतःही सबको जानताहै स्वभावसेही देव आदि देहोंके संगसे रहित है और देव आदि संपूर्णदेहोंके पोषणकरनेंमें समर्थ है, स्वभावसे सत्त्व आदि गुणरहित है और गुणभोक्तृ अर्थात् सत्त्व आदि गुणोंके भोगमें समर्थभी है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ॥

---

१ कल्पितकार्य्योंमें अकल्पित ब्रह्मरूप अधिष्ठानही बाह्य भीतर रज्जुकी नाईं सर्वात्मना व्यापक है अधिष्ठानात्मक होनेसे वही स्थावरजङ्गमात्मक है यह पूर्वार्धका अर्थ मधुसूदनमिश्र कहतेहैं.

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

वह आत्मा पृथ्वी आदि भूतोंको त्यागके अशरीर मुक्तअवस्थामें तिनसे बाहिर रहताहै और इनभूतोंके भीतरभी वर्तताहै स्वभावसे अचर है देहसंबंधसे चरभी होताहै सूक्ष्महोनेंसे अविज्ञेय है और पूर्वोक्तअमानित्व आदि गुणोंसे विपरीत वर्त्तनेवाले पुरुषोंके समीप रहाभी दूर है तथा अमानित्व आदि तिनगुणोंवालोंके वही समीप है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ॥

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

वह देव मनुष्य आदि संपूर्णभूतोंमें स्थितहुआ आत्मवस्तु वेदिताकरके एकआकारताहोनेंसे अविभक्त है सो अज्ञानीजनोंको यह देव है यह मनुष्य है ऐसे जुदे २ प्रकारसे स्थितहुवासरीखा दीखता है और देहरूपकरके अवस्थितहुए पृथिवीआदिभूतोंका, भर्त्ता, पोषणकरनेंवाला है देहरूपकरके भूतात्मक अन्नादिकोंको भक्षणकरनेंवाला है और भूतोंको उत्पन्नकरनेंवाला है ॥ १६ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १७ ॥

दीपक, सूर्य, मणि इत्यादिक ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप है तमः अर्थात् सूक्ष्मअवस्थावाली प्रकृतिसे परे है ज्ञान अर्थात् जो जानाजावे और ज्ञेय अर्थात् जाननेंके योग्य है ज्ञानगम्य, ज्ञानसाधनोंकरके प्राप्तहोनेंके योग्य, संपूर्ण मनुष्यआदिकोंके हृदयमें रहनेंवाला है ॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ॥

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इसप्रकारसे "महाभूतान्यहंकारः" यहांसे लेके "संघातश्चेतना धृतिः" यहांतक संक्षेपमात्रसे क्षेत्र कहा इससे आगे ज्ञातव्य आत्मतत्त्वका ज्ञानसाधन कहा, फिर "हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्" यहांतक ज्ञेय जो क्षेत्रज्ञहै उसका याथात्म्य कहा सो मेरा भक्त इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञके याथात्म्यको जानके मेरा जो जन्ममरणरहित स्वभाव है तिसको प्राप्त होजाताहै ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति और पुरुष अर्थात् जीव इनदोनोंकोही अनादि अर्थात् सनातन जानों और इच्छा, द्वेष आदि विकारोंको तथा अमानित्व आदि मोक्षहेतु गुणोंको क्षेत्राकार प्रकृतिसे उत्पन्नहुवे जानो ॥ १९ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ॥
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य कहिये शरीर कारण कहिये मनसहित इंद्रिय, सो इनके कर्तृत्व अर्थात् व्यापार करानेमें प्रकृतिही हेतु कहीहै और सुखदुःखोंके भोक्तापनमें पुरुष अर्थात् जीवात्मा हेतु कहाहै ऐसे इनदोनोंके कार्यका भेद कहाहै ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

स्वतः स्वानुभवैकसुखवालाभी पुरुष अर्थात् जीवात्मा प्रकृतिमें स्थितहुआ प्रकृतिके सत्त्व आदिगुणोंके कार्यभूत सुखदुःखोंको भोगताहै अनुभव करताहै तहां प्रकृतिके संसर्ग होनेंका कारण यह है कि देव मनुष्य आदि ऊंची नींची जैसी २ योनियोंमें स्थितहुआ तत्प्रयु-

क्त सत्त्व आदिगुणोंमें आसक्तहुआ तिनगुणोंसे जैसे पुण्य पाप आदिक-र्मोंमें प्रवृत्त होताहै उनके फलभोगनकेवास्ते सत्-असत् योनिमें उत्पन्न होताहै ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः॥
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

इसदेहमें यह पुरुष, उपद्रष्टा, साक्षी है अनुमंता, अनुमति सलाह देनेंवाला है भर्त्ता है देहप्रवृत्तिजनित जो सुख दुःख तिनका भोक्ता है इंद्रिय मन इनके प्रति महेश्वर है और इस देहमात्रका परमात्मा है और इसदेहसे परे है अर्थात् अपरिच्छिन्न ज्ञानशक्तिवाला हुआभी प्रकृतिके संबंधप्रयुक्तदेहमात्रकाही महेश्वर तथा परमात्मा कहाताहै ॥ २२ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह॥
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

जो इसपुरुषको, जीवात्माको इसउक्तस्वभाववालेको जानताहै और सत्त्व आदिगुणोंकरके युक्तहुई प्रकृतिको यथावद्विवेकसे जानताहै वह सर्वथा, देवमनुष्य आदिदेहोंमे अतिक्लेशसे वर्त्ताताहुआभी फिर जन्मको नहीं प्राप्तहोताहै अर्थात् तिसदेहके अंतमें आत्माको प्राप्त होजाताहै ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना॥
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २४ ॥

कितेक सिद्धभये योगिजन आत्मा अर्थात् शरीरमें स्थितहुए आत्माको (आत्माकरके) मनकरके भक्तियोगसे देखतेहैं अन्य कितेक योगिजन ज्ञानयोगसे योगके योग्यकियेहुए मनकरके आ-

त्माको देखतेहैं अन्य कितेकयोगिजन ईश्वराराधनकर्मकरके योग-
की योग्यताको उत्पादनकर आत्माको देखतेहैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ॥
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्य कितेक कर्मयोगआदिकों करके आत्माको नहींदेखसक-
नेंवाले जन अन्यज्ञानिजनोंसे सुनके कर्मयोगआदिको करके आ-
त्माकी उपासना करतेहैं वेभी आत्मदर्शनकरके संसारको तरते-
हैं और जो केवल सुननेंमेंही निष्ठा रखतेहैं वेभी पापरहित होके कर्म-
योगादिकोंका आरंभकर संसारको तरही जातेहैं ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

प्रकृतिसंयुक्त आत्माको विवेकपूर्वक अनुसंधान करनेंकेलिये स्था-
वरजंगमप्राणिवर्ग चित् अचित् दोनोंका संसर्गसे उत्पन्न हैं यह कहते-
हैं-हे भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन! जितना कछु स्थावरजंगमप्राणिमात्र
उत्पन्न होताहै उसको (क्षेत्र) देह और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवके संयो-
गसे उत्पन्नभयेको जानो अर्थात् संयुक्तही उत्पन्नहोताहै परस्पर-
भिन्न नहीं उत्पन्नहोताहै ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ॥
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

देव मनुष्य आदि संपूर्णभूतोंमें ईश्वरत्वकरके स्थितहुए आत्मा-
को देहआदिकोंके नाशसमयमेंभी नहींनाशहोतेहुएको ज्ञातृत्वक-

रके समानआकारवालेको जो देखताहै वह यथावस्थित आत्माको जानताहै और जो आत्माकोभी विषमाकार जानताहै वह अवश्य-ही संसारमें प्राप्तहोताहै ॥ २७ ॥

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ॥
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

संपूर्ण देव आदि शरीरोंमें एकरस नियंतृताआदिसे स्थित आत्मा-को ज्ञानैककारताकरके समान देखताहुआ जन मनकरके स्वा-त्माकी रक्षा करताहै संसारसे छुटाताहै तिस सर्वत्र समानाकारदर्श-नसे (परमगति) आत्माको प्राप्तहोजाताहै ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ॥
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

जो पुरुष पूर्वोक्तरीतिसे संपूर्णकर्मोंको प्रकृतिसेही करेहुयोंको देखताहै और आत्माको अकर्त्ता ज्ञानाकार देखताहै वह आत्माको यथावस्थितको देखताहै ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ॥
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

जब प्रकृति पुरुष इनदोनोंसे उत्पन्नहुवे देव आदि सबभूतोंमें देवत्व मनुष्यत्व ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि जुदे २ भावको जो एक-स्थ अर्थात् प्रकृतिमेंही स्थितहुवेको देखताहै तिसप्रकृतिसे पुत्र पौत्रादिकभेद विस्तारको देखताहै तब यह अनवच्छिन्न ज्ञानैकाका-र आत्माको प्राप्तहोताहै ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ॥
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

हे अर्जुन! अनादिहोनेंसे निर्गुणहोनेंसे शरीरमें स्थितहुआभी यह अविनाशी आत्मा कछु नहींकरताहै और देहके भावोंसे लिप्त नहींहोताहै ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ॥
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सर्वगतहुआ आकाश सूक्ष्मता होनेंसे तिन संपूर्णवस्तुओंसे लिप्त नहींहोताहै तैसेही अतिसूक्ष्मता होनेंसे संपूर्णदेहोंमें स्थितहुआ आत्माभी देहके स्वभावोंसे लिप्त नहींहोताहै ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ॥
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन! जैसे अकेला सूर्य इस संपूर्णलोकको प्रकाशितकरताहै तैसेही क्षेत्री आत्मा, बाहिर भीतर चरणसे मस्तकपर्यंत संपूर्णक्षेत्रको, (देहको) प्रकाशित करताहै ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ॥
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ऐसे उक्तप्रकारकरके क्षेत्रक्षेत्रज्ञके अंतर (विशेष) को जो विवेकविषयकज्ञानाख्यचक्षुकरके जानतेहैं और भूतप्रकृतिके मोक्षको, अमा-

---

१ भेद.

नित्व आदि मोक्षसाधनको जानतेहैं वे आत्माको प्राप्त होतेहैं ॥ ३४ ॥
इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-
वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ॥
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

तेरहवे अध्यायमें प्रकृतिपुरुषके स्वरूपको जानके भगवद्भक्ति-रूप अमानित्व आदि गुणोंकरके मुक्ति है यह कहा अब गुणों-को बंधनकी हेतुताका और तिनके निवर्त्तनका प्रकार कहाजा-वेगा श्रीभगवान् कहतेहैं- सबज्ञानोंमें उत्तम पूर्वोक्तसे अन्य प्रकृति-पुरुषविषयक ज्ञानको फिर कहेंगे इसज्ञानको जानके संपूर्णमुनिलोग परमसिद्धि मुक्तिको प्राप्तभयेहैं ॥ १ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ॥
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इसवक्ष्यमाणज्ञानके आश्रय होके मेरी सदृशताको प्राप्तहुवे ज-न सृष्टिकालमें संसारमें जन्म नहींलेतेहैं और प्रलय कालमें दुःखी नहींहोतेहैं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ॥
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

---

१ दूरहोगयाहै बन्ध जिनके ऐसे वह पुरुष स्वस्वरूपको.

अब सर्वभूतमात्रकी उत्पत्ति प्रकृतिपुरुषके संयोगसे है इसमें मूलकारण परमात्मा है यह कहतेहैं- सबजगत्के योनिभूत (कारणभूत) जो मेरी ब्रह्मशब्दवाच्य महाप्रकृति है उसमें मेरे संकल्पसेही मैं गर्भको धारणकरताहूं अर्थात् चेतनपुंजको उसीमें संयुक्तकरताहूं. हे भारत! संपूर्णभूतमात्रकी उत्पत्ति इसप्रकृतिपुरुषके संयोगसे मेरे संकल्पकरके होतीहै ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ॥
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

कार्यरूप चेतनअचेतनप्रकृतिकाभी संयोग मैंनेही कियाहै यह कहतेहैं-हे कौंतेय! संपूर्ण देवआदियोनिकेविषैं जो शरीर है तिनका कारण मैंने चेतनकरके संयुक्त कीहुई व्यापकरूप जो प्रकृति वही है और बीजको देनेंवाला पिता अर्थात् तिस २ योनिमें कर्मानुगुण समस्तचेतनका संयोग करनेंवाला मैंही हूं ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ॥
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सत्त्व-रज-तम ये जो प्रकृतिके गुण है सो कारणअवस्थामें अप्रकट है और प्रकृतिके विकार जो महदादिक है तिनमें प्रकट है सो यह गुण देहमनुष्यआदिकदेहका संबंधी अविनाशी जीवात्माको देहमें वर्त्तमानहुयेको बांधदेतेहै अर्थात् जीवात्मा सात्त्विक राजस तामसरूप होजाताहै ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ॥

१ सर्गादिकमें प्राचीनकर्मोंके वशसे प्रकृतिसम्बन्धसे देव आदियोंनियोंमे बारंवार देव आदिभावसे जो जन्म होताहै तिसका हेतु इसश्लोकसे कहाहै.

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

तहां सत्त्वगुण निर्मल होनेंसे प्रकाशक है अर्थात् सुखके हेतुभूत-कर्मोंका बोधक है और दुःखरहित है. हे निष्पाप अर्जुन! यह सत्त्वगुणजीवात्माको सुखसंयोगकरके और ज्ञानसंयोगकरके बांधताहै जैसे कि ज्ञानसुखका संयोग होवे तब तत्साधनलौकिकवैदिककर्मोंमें प्रवृत्ति होतीहै तिनसे स्वर्गादिकको प्राप्ति फिर उत्तमकुलमें जन्म ऐसे संसारमें प्राप्ति रहतीहै ॥ ६ ॥

रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ॥
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥

हे कौंतेय ! रजोगुणको राग अर्थात् विषयोंमें प्रीति करनेंवाला तथा स्त्री-धन-पुत्रआदिकोंकी तृष्णा और संगका हेतुभूत जानों सो वह रजोगुण प्रीति आदिक तिनकर्मोंके संगकरके देही, (जीवात्मा) को बांधताहै अर्थात् जिनमें प्रीतिआदि यह जीवात्मा करताहै उनमेंही वारंवार जन्म होताहै ॥ ७ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ॥
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तं निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

हे भारत ! संपूर्णदेहधारी प्राणियोंको मोहनेंवाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्नहुएको जानों अर्थात् विपरीतविषयज्ञानसे उत्पन्नहुएको जानों सो वह तमोगुण प्रमाद[1], आलस्य[2], निद्रा[3], इनकरके इसजीवात्माको बांधताहै ॥ ८ ॥

---

१ कर्त्तव्यकर्मसे अन्यत्रप्रवृत्तिका हेतुभूत अनवधान.

२ कर्म्म करनेमें अनारम्भस्वभाव.

३ पुरुषके इन्द्रियप्रवर्त्तनभ्रान्तिसे सबइन्द्रियप्रवर्त्तनोपरति.

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत॥
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

अब सत्त्व आदि गुणोंकरके बंधनहुयोंमेंभी प्रधानोंको कहतेहैं- हे भारत! सत्त्वगुण प्राणीको सुखमें प्रयुक्त करताहै रजोगुण कर्में- में लगाताहै तमोगुण ज्ञानको आच्छादितकर पीछे प्रमादविषें प्र- वृत्तकरदेताहैं ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ॥
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

हे भारत! यद्यपि सत्त्वआदि तीनोंही गुण प्रकृतिके संसर्गवाले आत्मस्वरूपके अनुयायी हैं तथापि प्राचीनकर्मवशसे कभी रजोगुण और तमोगुणको आच्छादितकर सत्त्वगुण प्रबल होताहै तथा क- भी तमोगुण और सत्त्वगुणको जीतके रजोगुण प्रबल होताहै कभी रजोगुणसत्त्वगुणको जीतके तमोगुण प्रबल होताहै ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते॥
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

यह इनसत्त्वआदि गुणोंकी वृद्धि कार्यके ज्ञानसे प्रतीत होतीहै य- ह कहतेहैं- संपूर्ण चक्षुआदि ज्ञानद्वारोंमें जब वस्तुयाथात्म्यको प्र- काशकरनेंवाला ज्ञान उत्पन्न होताहै तब इसशरीरमें सत्त्वगुण ब- ढाहै ऐसा जानें ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ॥
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ! रजोगुणके बढनेंमें लोभ[1] प्रवृत्ति, (प्रयोजन) के

१ अपने द्रव्यकूं कदाचितभी नहीं त्यागनेवाला.

विनाही स्वभावकी चंचलता फलोंके साधनभूतकर्मोंका आरंभ इं-द्रियोंको शमन न करना विषयोंमें इच्छा ये उत्पन्न होतेहैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ॥
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

हे कुरुनंदन! तमोगुणके बढनेमें अप्रकाश, ज्ञानकी उत्पत्ति न होना उद्यमताका अभाव प्रमाद अर्थात् नहींकरनेंयोग्यको कर-ना मोह विपरीतज्ञान ये होतेहैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ॥
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

जब सत्त्वगुण बढरहाहो तब जो यह देहधारी प्रलय अर्थात् मृ-त्युको प्राप्तहोवे तो आत्मवेत्ताओंके निर्मललोकोंको प्राप्त होताहै अर्थात् सत्त्वकी वृद्धिमें प्राण त्यागनेंवाला पुरुष आत्मवेत्ताओंके कुलमें उत्पन्न होके आत्मयाथात्म्यज्ञानसाधनपुण्यकर्मोंमें अधिका-री होताहै ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ॥
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

रजोगुणकी वृद्धिमें जो मरताहै वह फलकेवास्ते कर्म करनेंवा-लोंके कुलमें उत्पन्न होताहै तहां उत्पन्नहोके स्वर्ग आदि फलसाधन रूप कर्मोंमें अधिकारी होताहै और तमोगुणकी वृद्धिमें प्राण त्यागनें-वाला जन कुत्ता शूकर आदि मूढयोनियोंमें उत्पन्न होताहै ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ॥
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वगुणके परिणामको जाननेंवाले जन मेरा आराधनरूप सुकृत कर्मको निर्मल (दुःखगंधरहित) को, सत्त्वगुणका फल कहतेहैं औ- र अत्यंत प्रवृद्धरजोगुणके फलको तो पुनर्जन्मादिक औगुन होनेंसे दुःखरूपही कहतेहै और अंतकालमें बढेहुए तमोगुणके फलको प- रंपरारूप अज्ञान कहतेहैं ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ॥
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

ऐसे परंपरासे प्राप्तहुए अधिकसत्त्वगुणसे आत्मयाथात्म्यका प्र- त्यक्षरूप ज्ञान होताहै और रजोगुणसे लोभ होताहै और बढेहुए तमोगुणसे प्रमाद[1] तथा मोह[2] होताहै ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

ऐसे उक्तप्रकारसे सत्वगुणमें स्थितरहनेंवाले जन ऊर्ध्व अर्थात् क्रमसे संसारबंधनसे छूटजातेहैं रजोगुणप्रधानवाले पुरुष मध्य, (स्वर्ग) त- था मृत्युलोकमें रहतेहैं अर्थात् पुण्यसे स्वर्गप्राप्ति फिर जन्म पुण्य- से फिर स्वर्ग ऐसे वारंवार संसारही होताहै और तमोगुणकी वृत्ति- में रहनेंवाले उत्तरोत्तर अधिकतमोगुणवाले जन कृमि, कीट, तृण, वृक्ष, आदि योनियोंमें प्राप्त होतेहैं ॥ १८ ॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ॥
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥

जब आत्मविवेकी जन गुणोंसे अन्यकिसीको कर्त्ता नहीं देख-

---

१ अनवधानता. २ विपरीतज्ञान.

ताहै और अन्यआत्माको गुणोंसे पर (अकर्त्ताको) जानताहै तब वह मेरे भावको प्राप्त होताहै ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ॥
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

यह देहधारी देहविषैं उत्पन्नहुये सत्त्वआदि तीनोंगुणोंको उलंघनकरके ज्ञानैकाकार आत्माको देखताहुआ जन्म मृत्यु वृद्धावस्था इत्यादिक दुःखोंसे विमुक्त होके आत्माको प्राप्त होजाताहै ॥ २० ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ॥
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

ऐसे सुन अर्जुन पूछताभया कि हे प्रभो! इन सत्त्व आदिगुणोंसे अतीत (उल्लंघिके) वर्त्तनेंवाला पुरुष किनलक्षणोंकरके उपलक्षित होताहै और किसआचारसे युक्त रहताहै और इनसत्त्व आदिगुणोंको कैसे उल्लंघताहै ॥ २१ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ॥
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥

श्रीभगवान् कहनेंलगे- हे पांडव! जो पुरुष प्रकाश अर्थात् आरोग्य सुख आदि सत्त्वगुणके कार्य, प्रवृत्ति अर्थात् सुखदुःखआदिरजोगुणके कार्य, और मोह इनको अनिष्टकार्योंमें प्रवृत्तहुयोंको बुरे नहींमानताहै और प्रियवस्तुओंमें वर्त्ततेहुयोंको निवृत्त नहीं करताहै ॥ २२ ॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ॥
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

जो उदासनकीतरह बैठाहुआ रहताहै गुणोंकरके चलायमान ीं होताहै किंतु गुण अपनें प्रकाशकाआदिकार्योंमें वर्त्तरहेहै ऐसा नुसंधान करके चुपका होके स्थितरहताहै गुणकार्योंके अनुगुण ष्टा नहींकरताहै ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ॥
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

और सुखदुःखोंमें समान रहनेवाला स्वस्थ, अपनें आत्मामें थत रहनेंवाला पत्थर, लोहा, सुवर्ण इन सबोंमें समानबुद्धि रखनें-ला प्रिय तथा अप्रिय वस्तुमें तुल्य रहनेंवाला धीर अर्थात् प्र-ति और आत्माके विवेकमें चतुर अपनी निंदा तथा स्तुतिमें, पनें संबंधके नहींहोनेका अनुसंधानकरके समानचित्तवाला मा-अपमानमें समान रहनेवाला मित्र और शत्रुकी पक्षमें समान नेंवाला और देहित्वप्रयुक्तसंपूर्णआरंभोका परित्याग करनें-ला ऐसा योगी गुणातीत कहाताहै अर्थात् गुणोंको उल्लंघके ताहै ॥ २४ ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ॥
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥

जो पुरुष अव्यभिचारि भक्तियोगकरके मुझको भजताहै व-

१ सत्यसंकल्प परमकारुणिक आश्रितपुरुषोंके वात्सल्यके समुद्र मेरेको.

ह इनसत्त्वआदि दुरत्ययगुणोंको उल्लंघके ब्रह्मभावके योग्य होताहै मोक्षको प्राप्तहोताहै ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ॥
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्र-
ह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गु-
णत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

क्यों कि, जो मरणधर्मरहित इसीकारणसे अविनाशी ब्रह्म है उसकी प्रतिष्ठा, मूलकारण मैं हूं और सनातन भक्तियोगरूपधर्मका तथा ज्ञानीके आत्यंतिकसुखका मूलकारण मैं हूं तात्पर्य यह है कि पहले दैवी गुणमयी माया दुरत्यय कही, और उसमायाका तरनेंका उपाय भगवान्की शरणागति कही, इससे एकांत भगवत्की शरणागतिकरके गुणमयी मायाको तरके ब्रह्मानंदकी प्राप्ति होतीहै ॥ २७ ॥

इति श्रीबेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-
वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ॥
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलम

क्षेत्राध्यायसे लेके यहांतक क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूप प्रकृतिपुरुषके स्वरूपका शोधनकरके शुद्धस्वरूपज्ञानैकाकार पुरुषके, प्राकृतगुणसंगके प्रवाहसे देवादिरूपकरके परिणामवाली प्रकृतिका संबंध अनादि है यह कहा तिससे अगले चौदहवें अध्यायमें पुरुषके कार्यकारणरूपप्रकृतिके संबंधका हेतुरूप गुणसंगका प्रकार विस्तारपूर्वक कहके गुणोंके संगकी निवृत्तिपूर्वक यथार्थ आत्मस्वरूपके प्राप्तिका कारण भगवान्की भक्ति है यह कहा अब भजनीय जो भगवान् है सो अनेकप्रकारके भेदोंकरके भिन्न२हुये चेतनाचेतनसे विलक्षण पुरुषोत्तम है यह कहतेहैं तहां असंगरूपशस्त्रकरके जिसके बंधका छेदन होताहै ऐसी अक्षररूपविभूति कहनेंकेलिये छेदनकरनेंको योग्यबंधाकारकरके परिणतप्रपंचको अश्वत्थवृक्षाकार कल्पनाकरके श्रीभगवान् कहतेहैं- जो संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष है सो ऊपरको मूलवाला और नीचेको शाखावाला अविनाशी है ऐसा श्रुति कहतीहै, सप्तलोकोंके ऊपर रहनेंवाले चतुर्मुखी ब्रह्माको संसारका आदिहोनेंसे ऊर्धमूल कहा और पृथिवीनिवासी, सकलमनुष्यप्रभृति स्थावरपर्यंत होनेंसे संसारवृक्षको अधःशाखावाला कहा और प्रवाहरूपकरके अविनाशी कहा छंदांसि, श्रुतियोंसे प्रतिपादितकाम्यकर्म जिसके पत्ते है ऐसे इससंसाररूपी अश्वत्थवृक्षको जो जानताहै वह वेदवेत्ता है अर्थात् इसको जानके इसके छेदनके उपायको जानलेताहै ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा
विषयप्रवालाः ॥ अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

इस संसाररूपी अश्वत्थवृक्षकी शाखा ऊपर और नीचेको फै-

लरहीहै सत्त्व आदिगुणोंसे बढीहुई और शब्दआदिविषयरूपपत्तों-
वाली है और ब्रह्मलोकमें मूलवाले इसवृक्षकी कर्मोंके अनुबंधवाली
जड नीचेको मनुष्यलोकमेंही है क्यों कि मनुष्यत्व अवस्थामेंही
कियेहुए कर्मोंकरके नीचे मनुष्य पशु आदि और ऊपर देव आदि-
क शरीर प्राप्तहोतेहैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चा-
दिर्न च संप्रतिष्ठा ॥ अश्वत्थमेनं सुविरूढ-
मूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न
निवर्तन्ति भूयः ॥ तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

इसवृक्षका जो यह रूप कहाहै सो संसारी अज्ञानिजनोंसे न-
हीं जानाजाताहै किंतु संसारिजनोंको तो मैं मनुष्य हूं देवदत्तका
पुत्र हूं इत्यादिकही उपलब्ध होताहै इसकी आदि तथा अंतभी
अज्ञानिजनोंसे नहीं जानाजाताहै इसकी प्रतिष्ठा, आत्मामें शरी-
राभिमानरूप जो अज्ञान है सोभी नहीं जानाजाताहै ऐसे, इस दृ-
ढमूलवाले संसाररूपी अश्वत्थवृक्षको भोगोंका असंगस्वरूप दृढ
शस्त्रकरके छेदनकरिके फिर जिससे संपूर्णको रचनेंवालोंकी, यह गु-
णमय, प्राचीनसंसारकी प्रवृत्ति होतीहै तिस आद्यपुरुषके शरण
होके वह पद, (स्थान) ढूंढना चाहिये कि जिसमें प्राप्तहुए जन फिर
संसारमें नहीं आतेहैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

निर्मानमोहाजितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या वि-

निवृत्तकाः ॥ द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्ग-
च्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

ऐसे मेरी शरणागतिसे चलेगयेहैं अनात्मवस्तुमें आत्माभिमा-
रूप मोह जिनके जीतलियेहैं भोगसंगके दोष जिन्होंनें ऐसे औ
आत्मज्ञानमें नित्यरत अन्यकामनाओंसे निवृत्त हुए, सुखदुःखसं
द्वंद्वोंसे रहितहुए अमूढ, आत्मअनात्मवस्तुके स्वभावको
जानेंवाले ऐसे जन तिसपदको, अनवच्छिन्नज्ञानाकार आत्मा-
प्राप्त होतेहैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ॥
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

तिसआत्मा ज्योतिको सूर्य नहींप्रकाशताहै चंद्रमा नहीं
प्रकाशताहै तथा अग्निभी नहीं प्रकाशता है और जिसमें प्राप्त हो-
फिर नहीं निवृत्तहोतेहै वह मेरा परमधाम है अर्थात् परम
ज्योतिस्वरूप मेरा विभूतिरूप मेराही अंश है ॥ ६ ॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ॥
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

इसजीवलोकमें जीवभूत यह सनातन आत्मा मेराही अंश है
विशिष्टवस्तुका एकदेश अंश कहाताहै जैसे तांत्रिकलोग विशिष्टव-
स्तुमें यह विशेषणांश है यह विशेष्यांश है ऐसा व्यवहारकरतेहैं, सो
इसप्रकार मेरा अंश जीवात्मा, छटा है मन जिनमें ऐसे पांचों इं-
द्रियोंको कर्मोंके अनुगुण जहां तहां अपकर्षण करताहै ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ॥

१ अर्थात् सबका ज्ञानही प्रकाश है.

गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

यह इंद्रियोंका ईश्वर जीवात्मा जिस शरीरको प्राप्त होताहै और जिस शरीरसे निकसताहै तब यह आपही इन इंद्रियोंको भूतसूक्ष्मोंकेसंग ग्रहणकरके अन्यजगह गमन करता है जैसे वायु माला, चंदन, कस्तूरी आदिकोंकेमांहसे सूक्ष्म, अवयवोंसहित गंधको ग्रहणकर गमन करताहै तैसे ॥ ८ ॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥
अधिष्ठाय मनश्चाऽयं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

श्रोत्र, चक्षु, त्वचा, जिह्वा, नासिका, इन पांच इंद्रियोंको तथा मनको अधिष्ठित होके, अपने २ विषय वृत्तिके अनुगुणकरके तिन २ के शब्दादिकविषयोंको सेवताहै ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ॥
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

सत्त्वादिगुणमय प्रकृतिपरिणामरूप मनुष्यआदिकमें स्थितहुएको तथा तिसमनुष्यआदि शरीरमहांसे निकसतेहुएको वा विषयोंका भोग करतेहुए जीवात्माको विमूढजन नहीं देखतेहैं, नहींजानते हैं, और आत्मज्ञानी लोग तो सर्वावस्थामें स्थितहुएको विविक्ताकाररूप ज्ञानसे देखतेहैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ॥
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

यत करतेहुए योगिजन अपनें अंतःकरणमें स्थितहुए इसआत्माको देखतेहैं जानतेहैं और अकृतात्मा, विषयोंमें आसक्तहु

ोरी शरणागतिसे रहित इसीलिये अचेत अर्थात् आत्मावलो-
न करसके ऐसे चित्तवाले यत्न करतेहुएभी योगिजन इस-
त्माको नहीं देखतेहैं ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ॥
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

सूर्यमें प्राप्तभया तेज जो संपूर्णजगत्को प्रकाशित कररहाहै
जो चंद्रमामें तेज है तथा अग्निमें जो तेज है वह सब मेरा-
तेज है ऐसा जानों तिनसे आराधितहुये मैंने तिनकेवास्ते
याहै ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ॥
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥१३॥

में पृथ्वीमें आवेशहोके अपनी धारणाशक्तिकरके संपूर्णभूतों-
धारणकरताहूं और रसात्मक चंद्रमा होके संपूर्ण औषधियों-
पोषण करताहूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ॥
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

जठराग्निरूप होके प्राणियोंके देहमें स्थितहुआ प्राण और अपा-
युसे संयुक्तहुआ मैंही भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य ऐसे चार प्र-
से भोजन कियेहुए प्राणियोंके अन्नको पचाताहूं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञा-
नमपोहनं च ॥ वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वे-
दान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

मैं सबके हृदयमें स्थितहूं मुझसेही स्मृति होतीहै और सर्ववस्तुका ज्ञानभी मेरेसेही होताहै विलक्षणतर्कभी मेरेसेही है संपूर्णवेदोंकरके वेद्य, जाननेंके योग्यभी मैंही हूं और वेदमें कहेहुये फलोंका प्रदाता हूं और वेदको जाननेंवालाभी मैंही हूं ॥ १५ ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

इसलिये मेरेसेही संपूर्णवेदान्तोंके सारार्थको सुन क्षर, अक्षर, ये दो पुरुष लोकमें विख्यात है तहां क्षरशब्दकरके जीव नामवाले ब्रह्मासे आदिले स्तंबपर्यंत क्षरणस्वभाववाले अचित् पदार्थकरके संयुक्तहोनेंसे सर्वभूत कहेजातेहै और अक्षरशब्दकरके निर्दिष्ट अचित् संसर्गसे वियुक्त होनेंसे स्वस्वरूपकरके अवस्थित मुक्तात्मा कहाजाताहै ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥

इन क्षरअक्षरशब्दोंसे निर्दिष्ट जो बद्ध तथा मुक्त चेतन जीवात्मा हैं तिन सबोंसे उत्तमपुरुष तो परमात्मा अलगही कहाहै ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

जिस कारणसे मैं क्षर जीवात्मासेभी उत्कृष्ट हूं और अक्षरजीवात्मासेभी उत्कृष्ट हूं इसकारणसे लोकमें तथा वेदमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूं ॥ १८ ॥

---

१ अर्थात् जो बद्धहै सोही क्षरशब्दवाच्य है और जो मुक्त है सो अक्षरशब्दवाच्य है.

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ॥
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥ १९॥

हे अर्जुन! जो असंमूढ, उत्तमज्ञानी जन इस पूर्वोक्तप्रकारसे पु-
रुषोत्तमको मुझको जानताहै वह सब वस्तुओंको जाननेंवाला है
और संपूर्णभावोंकरके मुझको भजताहै ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ॥
एतद्बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मवि-
द्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुराणपुरुषो-
त्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५॥

हे निष्पाप अर्जुन! इसप्रकारसे यह अतिगोपनीय शास्त्र[1] मैंने
कहा हे भारत! इसको जानके पुरुष बुद्धिमान् हो कृतकृत्य होजा-
ताहै ॥ २० ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-
बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

---

१ परमपुरुषोत्तमत्वका प्रतिपादक.

अथ षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ॥
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥

इससे पहले तीन अध्यायोंकरके विविक्त प्रकृतिपुरुषोंका तथा संयुक्तप्रकृतिपुरुषोंका यथार्थस्वरूप तथा प्रकृतिसंयोगवियोगका हेतु गुणसंग और गुणविपर्यय है और सर्वप्रकारकरके अवस्थित प्रकृतिपुरुष भगवान्की विभूति है तथा अचित्वस्तुसे और बद्ध मुक्त उभयावस्थापन्न चित्वस्तुसे अव्ययत्व व्यापन पोषण स्वामित्व इनस्वभावोंकरके पुरुषोत्तमभगवान् विलक्षण है पृथक्वस्तु है यह कहा अब उक्तार्थकी स्थिरताकेवास्ते चेतनकूं शास्त्रवश्यता कहनेकेवास्ते शास्त्रवश्य दैवी सृष्टि है तद्विपरीत आसुरी सृष्टि है यह कहतेहै- अभय, अंतःकरणकी शुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति प्रकृतिसे वियुक्त आत्मस्वरूपके विवेकमें निष्ठा, न्यायसे संचितकियाहुआ धन सुपात्रके अर्थ देना, दम मनको विषयोंसे निवृत्तकरना, निष्काम होके भगवत्आराधनरूपमहायज्ञआदिकोंका अनुष्ठान, स्वाध्याय वेदाभ्यासमें निष्ठा, कृछ्रचांद्रायणआदि तप, सबमें सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ॥
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

किसीको पीडा न देनी, सत्य, हित और यथार्थ बोलना, क्रोध न करना, त्याग, शांति इंद्रियोंको विषयोंसे हटा वशमें करना, किसीकी चुगली न करना, सबभूतोंमें दया रखनी, विशेष लोभ न करना,

ठोर न रहना, साधुजनोंसे मेलमिलाप रखना, लज्जा, व्यर्थकामोंमें
पलता न करनी ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ॥
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तेज[2], क्षमा[3], धीरज, बाह्याभ्यंतरशौच द्रोह नहींकरना अतिमान
हींचाहना, हे भारत! दैवसंपत्को प्राप्तभये मनुष्यके ये संपूर्णगुण
तेहैं ॥ ३ ॥

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ॥
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

दंभ, धार्मिकता दिखानेंकेवास्ते धर्मका अनुष्ठान करना अभि-
न, क्रोध, कठोरता, अज्ञान, कृत्य अकृत्यका अविवेक ये स्वभा-
आसुरीसंपत्को प्राप्तभये मनुष्यके होतेहैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ॥
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

मेरी आज्ञानुवृत्तिरूप दैवी संपत् संसारबंधसे मुक्तिकेवास्ते हो-
है और आसुरी संपत् बंधनकेवास्ते कहातीहै, हे पांडव! तुम
दैवीसंपत्को प्राप्तहोरहेहो इसलिये शोच मतकरो ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ॥
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

१ अकार्य्य करणेमें. २ दुर्जन पुरुष जिससे तिरस्कार न करसकै सो तेज।
३ परपुरुषनिमित्त दुःखका अनुभव कियेपरभी परपूरुषपर जिसके प्रभ-
चित्तमें विकार नहीं होवे सो क्षमा.

इस कर्मलोकमें, कर्म करनेंवाले भूतोंके दैव, आसुर ये दो (सर्ग) उत्पत्ति कहातेहै तहां दैव सर्ग तो विस्तारसे कहा अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग विस्तारपूर्वक कहा अब आसुरयोगको मुझसे सुनों ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः॥
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७॥

प्रवृत्तिको और निवृत्तिको अर्थात् मोक्षसाधन तथा वैदिकधर्म साधनको असुरस्वभाववाले मनुष्य नहींजानतेहै और उनमें शौचं नहींहै तथा आचार शास्त्रोक्त आचरण नहींहै और सत्य यथार्थज्ञानभूत हितरूप भाषणभी नहींहै ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ॥
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

वे असुरस्वभाववाले जन इसजगत्को असत्य कहतेहै अर्थात् सच्छब्द निर्दिष्ट ब्रह्मकार्य तथा ब्रह्मात्मक नहींकहतेहै, ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है ऐसाभी नहीं कहतेहै और अनीश्वर कहतेहै तथा और स्त्रीपुरुषके संबंधसे उत्पन्नहुए ये मनुष्य पशुआदिक दीखतेहै ऐसे संयोगकेविना क्या दीखताहै किंतु कछु नहीं दीखताहै इसलिये यह संपूर्णजगत् कामहेतुक, स्त्रीपुरुषके संयोगसेही होताहै यह कहतेहै ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ॥

---

१ वैदिककर्म्म करनेकी योग्यता.

२ संध्यावन्दनादि. तात्पर्य यह है कि "सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु" इत्याद्युक्तप्रकारसे वह पुरुष कोईभी कर्म्मलायक नहींहै.

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

इसदृष्टिको प्राप्तभये वे असुरस्वभाववाले अल्पबुद्धिवाले, नष्टस्वभाववाले जन जगत्के नाशकेलिये उग्र, हिंसा आदिकर्मोंमें प्रवृत्त रहतेहैं ॥ ९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः॥
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥

किसीतरह पूरण न कियाजावे ऐसे कामके आश्रय होयके अज्ञानसे अन्यायगृहीतपरिग्रहोंको ग्रहणकर शास्त्रविरुद्धनियमोंवालेहुए दंभ, मोह, मद, इन्होंसे युक्तहुए वर्त्ततेहैं॥ १०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः॥
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥

अपरिमित तथा मरणान्तचिंताको प्राप्तभये कामके उपभोगोंको ही परमपुरुषार्थ मानतेहुए इससे अधिक पुरुषार्थ नहींहै ऐसा निश्चयवाले रहतेहैं॥ ११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसंचयान्॥ १२॥

सैंकडों आशारूप फांसियोंसे बंधेहुए कामक्रोधमें तत्परहुए कामके भोगोंकेवास्ते अन्यायसे द्रव्यसंचय करनेकी चेष्टा करतेहैं॥१२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्॥ गवाद्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥

अब यह संपूर्ण क्षेत्रपुत्रादिक मैंने पुरुषार्थकरके लब्धकिया औइसमनोरथको मैंही प्राप्त होवूं मेरी सामर्थ्यसे यह धन प्राप्तहै और यह मेरी सामर्थ्यसे फिर प्राप्तहोगा॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥

मैंने बलवालेनें यह शत्रु मारा और अन्योंकोभी मारूंगा मैं ईश्वर हूं स्वतंत्र हूं अन्योंका नियंता हूं मैंही भोगी हूं कछु प्रारब्ध आदिकोंसे भोग नहींहै मैं स्वतःसिद्ध हूं आपही बलवान् हूं स्वतःही सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोन्योऽस्ति सदृशो मया ॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५ ॥

मैं धनाढ्य हूं स्वतःही उत्तमकुलमें उत्पन्न भयाहूं इसलोकमें मेरेसमान अन्य कौन अपनी सामर्थ्यवाला है मैं स्वतःही यज्ञ करूंगा,दान दूंगा, आनंद करूंगा, ऐसे अज्ञानसे विमोहितहुए मानतेहै ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६॥

कोई प्रारब्धादिक नहींहै मैं यह करूं यह नकरूं इत्यादि अनेक प्रकारसे विभ्रांतचित्तवाले ऐसेही मोहजालसे आच्छादितहुए कामभोगोंमें अत्यंत आसक्तहुए ये मनुष्य मरके अशुचिनरकमें पडतेहै ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ॥
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७॥

जो अपनेंको आपही श्रेष्ठ मानरहेहै और "स्तब्धाः" परिपूर्ण मानतेहुए कछुभी नहीं करतेभये धनमानआदिके मदसे युक्त भ-

---

अविवेक अर्थात् अज्ञान यही जाल.

ये वे मनुष्य मैं यज्ञ करताहूं ऐसे नाममात्रसेही दंभकरके अवि-
धिपूर्वक यज्ञादिक करतेहैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

मैंही सब करताहूं ऐसा अहंकार, बल, अभिमान, काम, क्रोध इनके आश्रितभये वे ऐसे मनुष्य अपनें तथा अन्योंके देहोंविषैं रहतेहुए सर्वका कर्त्ता पुरुषोत्तम मुझको " प्रद्विषन्तः " कुयुक्तियों-करके मेरी स्थितिमें दोषोंको प्रकट करतेहुए मुझको नहीं सहतेहुए, निंदा करतेहैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

ऐसे जो मुझसे द्वेष करतेहैं तिन अशुभ अधमनरोंको मैं निरंतर जन्ममरणआदिरूपसंसारमें क्रूरकर्मवाली आसुरीयोनियोंमेंही वारंवार पटकताहूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

हे कौंतेय ! वे आसुरीयोनिको प्राप्तहुए जन्मजन्ममें (मूढ) मुझसे विपरीतज्ञानवाले हुए मुझको नहीं प्राप्तहोकेही अर्थात् भगवान्-वासुदेव सर्वेश्वर, है ऐसे ज्ञानको नहींप्राप्तहोके फिर जन्मजन्ममें नीचयोनिमें प्राप्त होतेहैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

यह असुरस्वभावरूप जो नरक है तिसके तीन प्रकारका द्वार है वही आत्माको आपको नाशताहै काम, क्रोध, लोभ यह उनतीनों द्वारोंका स्वरूप है, इसलिये इन तीनोंको त्याग देवै ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

हे कौंतेय! इन काम, क्रोध, लोभरूप तीनों तमोगुणद्वारोंकरके विमुक्तहुआ नर आत्माके कल्याणका आचरण करताहै अर्थात् लब्धहुए मद्विषयकज्ञानकरके मेरे अनुकूलप्रयत्न करताहै पीछे मुझकोही, परमगतिको प्राप्त होजाताहै ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

जो पुरुष वेदशास्त्रकी विधिको त्यागके स्वेच्छाचारी होके विचरताहै वह सिद्धिको नहीं प्राप्तहोता और इसलोकके सुखोंको नहीं प्राप्तहोता तथा मोक्षकोभी नहीं प्राप्तहोताहै ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इसलिये कार्यअकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र प्रमाणकर तिस शा–

१ मार्ग. २ तात्पर्य यह है कि शास्त्रका अनादरही नरकमें पडनेका मुख्य कारण है.

विधानमें कहेहुए कर्मकोभी जान पीछे तिसही कर्मको ग्रहणक-
नेंको तुम योग्य हो ॥ २४ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस- द्विज-शालग्रामात्मज- बुध-
वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

इस सोलहवे अध्यायमें दैवासुरविभागपूर्वक प्राप्य तत्त्वज्ञान, तिस-
की प्राप्तिका उपायका ज्ञान, वेदहीसे होताहै ऐसा कहा फिर अंतमें
कहा कि शास्त्रहीन विधिसे कर्म करनेंवालेको नरकादिककी प्राप्ति है
सुखादिक नहीं होताहै ऐसा सुनके अर्जुन पूछताहै कि-हे कृष्ण ! जो
पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागके श्रद्धासे युक्त होके यज्ञ करतेहैं ति-
नकी क्या निष्ठा है क्या सत्त्वगुण वा रजोगुण वा तमोगुणकी निष्ठा
स्थिति रहतीहै ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

श्रीभगवान् कहतेहै- देहधारियोंकी तीनप्रकारकी निष्ठा होतीहै

सो प्राचीनवासनावस्तुरूपस्वभावसेही होतीहै सो सात्त्विकी, राजसी, तामसी ऐसे तीनप्रकारकी है तिसको सुनों ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

हे भारत! भरतवंशमें होनेंवाला अर्जुन! सर्वपुरुषोंकी श्रद्धा अंतःकरणके अनुरूप होतीहै अर्थात् जैसा गुणयुक्त अन्तःकरण होताहै तद्विषयवाली श्रद्धा उत्पन्न होतीहै यह पुरुष श्रद्धामय है श्रद्धाप्राय है श्रद्धाके अनुसारही विकारको प्राप्त होताहै जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है वह वैसाही है पुण्यकर्ममें श्रद्धायुक्तचित्तवाला जन पुण्यकर्मफलसे युक्त होताहै ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

सत्त्वगुणप्रधानवाले जन, देवतोंका पूजन करतेहै और रजोगुणी पुरुष यक्षराक्षसआदिकोंको पूजतेहै तामसीजन भूतप्रेतआदि गणोंको पूजतेहै ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ॥
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

जो मनुष्य शास्त्रसे नहीं विधानकिये घोरतपको तपतेहै, दंभ अहंकार संयुक्तहुए कामरागके बलसे संयुक्त हुए वे जन अपनें शरीरमें स्थितहुए पृथिवीआदि भूतसमूहको और शरीरमें स्थितहुए मेरे अंशभूतजीवको दुःख देतेहुए यज्ञादिक तप करतेहै सो उन

असुरोंका निश्चयवाले जानों क्यों कि असुरही मेरी आज्ञासे
रीतकरनेंवाले होतेहैं इसीसे उनको सुखका लेशभी न हो-
॥ ५ ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आहारभी सर्वप्राणीमात्रको सत्त्वआदिगुणोंके संबंधकरके तीन-
प्रकारका प्रिय होताहै और यज्ञ, तप, दान येभी तीनही प्रका-
होतेहैं अब इनके इस वक्ष्यमाणभेदको सुनों ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ८॥

सत्त्वगुणसे युक्त मनुष्यको सत्त्वगुणी आहार प्रिय होतेहैं सो वे
हार आयु, सत्त्वगुण, बल, आरोग्य, सुख, प्रीति, इन्होंको बढानें-
 होतेहैं मधुररससे युक्त चिकने स्थिरपरिणामवाले सुंदररम-
क, ऐसे सात्त्विक आहार सात्त्विक जनको प्रिय होतेहैं ॥ ८ ॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

कटुक खट्टे सलौने अतिगरम तीखे रूक्ष विदाही ऐसे आहार
गुणीपुरुषको प्रिय होतेहैं तहां तीक्ष्णपदार्थ शोषकारक है रू-
तापकारक है विदाही दाहकारक है ऐसे तेजरसप्राय होनेंसे दुः-
शोक, रोग इनको बढानेंवाले है ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

बहुतकालसे धरा, स्वाभाविकरसरहित, दुर्गंधवाला, वासी, उ-

च्छिष्ट, अपवित्र, ऐसा भोजन तमोगुणीपुरुषोंको प्रिय होतेहैं॥१०

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते॥
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥ ११॥

भगवत्आराधनता करके स्वप्रयोजनता होनेंसे यज्ञ करना योग्य है ऐसे मनको सावधानकरके जो फलकी इच्छारहित जनों शास्त्रविहितविधिके अनुसार यज्ञ कियाजाताहै वह सात्त्विक यज्ञ कहाताहै ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥ १२॥

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ! जो पुरुष फलकी इच्छाकरके दंभसे युक्त हो यज्ञ करताहै वह राजस रजोगुणी यज्ञ कहाताहै ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥ १३॥

ब्राह्मणकी उक्ति आदिविधियोंसे हीन उचितअन्नद्रव्यआदिसे हीन मंत्रहीन दक्षिणारहित श्रद्धारहित यज्ञको तामस तमोगुणवालोंका कहतेहैं ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्॥
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १४॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् इन्होंका पूजन करना तीर्थस्नानआदि शौच, अहिंसा[1], यह शारीर शरीरसे होनेवाला तप कहाताहै॥१४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्॥
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ १५॥

१ प्राणिमात्रको पीडाका जो नहिंकरण सो हिंसा.

अन्यकिसीको उद्वेग करानेंवाला न हो सत्य और प्रिय, हित
वचन और स्वाध्यायवेदके पठनपाठनका अभ्यास यह वाङ्-
वाणीका तप कहाताहै ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

मनमें प्रसन्नता क्रोधादिकका न होना अन्यसबोंके आनंदको
चाहना मौन धारण मनकी वृत्तिको ध्येयविषयमें स्थित करना आ-
न्यतिरिक्तविषयमें चिंता न करना यह मानस तप कहाताहै॥ १६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७॥

फलकी इच्छारहितजनोंसे जो परमश्रद्धा करके यह तीन प्रका-
का तप कियाजाताहै सो सात्त्विक कहाताहै ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

और जो अपनें सत्कारकेवास्ते तथा मानकेवास्ते वा पूजाके-
वास्ते फलाभिसंधिपूर्वक दंभहेतुसे तप कियाजाताहै वह यहां राजस
कहाताहै सो स्वर्गादिफलोंका साधन है वह पतनके भयसे चल-
स्वभाव है और अध्रुव नाशवान् है ॥ १८ ॥

मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

जो मूढ अविवेकिपनेंके आग्रहसे अपनी शक्तिको देखेविनाही

१ आस्तिक्यबुद्धि.

अ..को पीडाकरके तप कियाजाताहै अथवा अन्यकिसीको दुःख देनेकेवास्ते तप कियाजाताहै वह तामसी तप कहाताहै ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

जो पुरुष फलकी इच्छासे रहित होके यह देनाही चाहिये ऐसे विचारके अपना कछु उपकारी न हो ऐसे सुपात्रकेवास्ते जो अच्छे देशमें अच्छेकालमें दान दियाजाताहै वह सात्त्विक कहाताहै ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

जो दानग्राही पुरुषसे अपना उपकारकेवास्ते अथवा फलकी इच्छाके उद्देशसे परिक्लिष्ट, अमंगलद्रव्यका दान दियाजाताहै वह राजस कहाताहै ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अपवित्रदेशकालमें जो कुपात्रकेवास्ते पादप्रक्षालनआदि सत्कार कियेविनाही अनादरपूर्वक दियाजाताहै वह तामसी दान कहाताहै ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

ऐसे वैदिकयज्ञादिकोंका सत्त्वादिगुणका भेदकरके भेद कहदिया अब उसही यागादिकका ॐ कारके संयोगसे तत्शब्द और तत्शब्दकी वाच्यताकरके लक्षण कहतेहैं ॐ तत् सत् यह तीन प्रकार

का निर्देश ब्रह्मका कहाहै अर्थात् ब्रह्ममें अन्वित है, तात्पर्य ॐकार कर्मका अंग है और तत् सत् ये कर्मकी पूज्यताके वाचिक है तिस तीन प्रकारके शब्दकरके मिलितब्राह्मणआदि, तथा वेद और यज्ञ ये सब पहले मैंनेही रचेहै ॥ २३ ॥

तस्माद्ोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

जो कि ब्रह्मवादी तथा वेदवादी तीनों वर्णोंको यज्ञआदिक्रिया वेदविधानसेही प्राप्त होतीहै और वेदकी आदिमें ॐ ऐसा उच्चारण करके प्रवृत्तहोतेहै इसलिये वेदोंका तथा वेदप्रतिपादितकर्मोंका ॐ इस शब्दसे अन्वय वर्णित है सो ॐ ऐसा शब्दयुक्त वैदिककर्म करनेंसे ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्ट तीनों वर्णोंको ॐ इस शब्दकरकेभी अन्वय वर्णित है ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥२५॥

अब इनका तत्शब्दके संग अन्वयप्रकार कहतेहै-तत् अर्थात् तिस परमेश्वरके अर्पणही संपूर्णकर्म है ऐसे तत्शब्दमें कर्मफलको समर्पण करके मोक्षकी इच्छावाले तीनों वर्णोंसे यज्ञ, तप, दान आदि अनेक प्रकारकी क्रिया कीजातीहै ऐसे त्रिवर्णोंका तत्शब्दके साथभी अन्वय है ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

अब इनका सत्शब्दके संग अन्वय दिखानेंकेवास्ते लोकमें सत्शब्दके व्युत्पत्तिका प्रकार कहतेहै-हे पार्थ ! सत्शब्द, विद्यमा

तताविषैं और कल्याणभावविषैं सबवस्तुओंमें लोकमें तथा वेदमें सत् ऐसा पद प्रयुक्त कियाजाताहै और तैसेही श्रेष्ठकर्ममेंभी सत्शब्द प्रयुक्त है जैसे कि यह सत्कर्म है ऐसा कहाकरतेहै ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

इसलिये तीनों वर्णोंकी यज्ञ, तथा तप और दानमें जो स्थिति है सो कल्याणगुणताकरके सत् ऐसी कहातीहै और इन तीनों वर्णोंका जो ईश्वराराधन कर्म है वहभी सत् ऐसा कहाताहै ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ नच तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

हे अर्जुन! जो श्रद्धाकेविना होमागयाहै तथा दान किया गयाहै और तपस्या कीगईहै तथा अन्य कछु शुभकर्म कियागयाहै सो संपूर्ण असत् ऐसा कहाताहै उसका कछु यहां फल नहीं और मोक्षका हेतुभी नहींहै ॥ २८ ॥

इति श्रीवेरीनिवासि-गौडवंशावतंस-द्विज-शालग्रामात्मज-बुध-वसतिरामविरचितगीताश्लोकार्थदीपिकाटीकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

॥ अर्जुन उवाच ॥

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

अब मोक्षके साधन कहे जो त्याग और संन्यास उनकी एकता त्यागका और संन्यासका स्वरूप भगवान्‌केविषें सब कर्मों- कर्तृत्वका अनुसंधान और सत्त्वगुणका अवश्य अंगीकार औ- मस्तगीताशास्त्रका सारांश भक्तियोग है यह सब इस अठारहवें ायमें कहेजातेहै तहां त्याग और संन्यासकी पृथक्ता, एकतानि- लिये स्वरूप निर्णयकेवास्ते अर्जुन पूछताहै-हे महाभुज! संन्यास त्याग दोनों मोक्षसाधन कहेहै सो इन दोनों शब्दोंका एकही अर्थ थवा भेद है इसलिये, मैं संन्यासके तत्त्वको जाननेंकी इच्छा हूं हे हृषीकेश! हे केशिनिषूदन!! मैं संन्यासका और त्याग- थक् २ भेद सुनाचाहताहूं ॥ १ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

गवान् कहनेंलगे-सार और असार वस्तुके विवेकको पहिचान- कविलोग काम्यकर्मोंके छोडनेंको संन्यास कहतेहै और कितेक सब कर्मोंके फलके त्यागकोही त्याग कहतेहै ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

कितेक विद्वान्‌लोग कहतेहैं कि कर्मको रागादि दोषवाले हों
से बंधनस्वरूप संपूर्ण यज्ञआदि कर्म मुमुक्षुको त्यागदेनेंही चाहि
कितेक पंडितलोग ऐसा कहतेहैं कि यज्ञआदि कर्म नहीं त्यागना॥३

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ॥
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

हे भरतवंशोत्तम! तहां इस सब त्यागविषैं मेरा निश्चय सुनों, पुरुषसिंह! त्यागही वैदिककर्मोंमें फलविषयताकरके, कर्तृत्वविष ताकरके, ममताविषयताकरके तीन प्रकारका होताहै ॥ ४ ॥

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

यज्ञ, दान, तपआदि कर्म नहींत्यागना किंतु करनाही योग्य क्यों कि यज्ञ, दान, तप ये कर्म मननशीलवाले उत्तमजनोंको प करनेंवाले है अर्थात् उपासनाकी सिद्धिके विरोधी प्राचीनकर्मों नष्ट करनेंवाले है ॥ ५ ॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ॥
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

हे पार्थ! जो कि यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म मनीषिजनोंको वित्र करतेहै इसलिये इनकर्मोंमें ममता और फलको त्यागके आराधनरूप ये कर्म करनेंही योग्य है ऐसा मेरा निश्चित उत्त त है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

१ अत्यंत बुद्धिवाले.